क्रमबद्धपर्याय

डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल

शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम० ए०, पीएच० डी०

श्री टोडरमल स्मारक भवन, ए-४, बापूनगर, जयपुर–१५

प्रकाशक :

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-४, बापूनगर, जयपुर–३०२०१५

हिन्दी

प्रथमावृत्ति · १०,००० १ जनवरी, १९८० ई०
द्वितीयावृत्ति १२,००० १ अगस्त, १९८० ई०
तृतीयावृत्ति · ५,२०० ६ अप्रेल, १९८२ ई०
चतुर्थावृत्ति : ५,२०० १४ नवम्बर, १९८६ ई०

योग ३२ हजार ४००

गुजराती

प्रथमावृत्ति : ८२०० १६ अप्रेल, १९८० ई०
द्वितीयावृत्ति ३२०० १३ फरवरी. १९८६ ई०

योग ११ हजार ४००

कन्नड

प्रथमावृत्ति १,००० १ फरवरी, १९८१ ई०

आत्मधर्म

हिन्दी, गुजराती, मराठी, तमिल तथा कन्नड मे प्रकाशित १५,०००
अग्रेजी—प्रेस मे २२००

कुल योग ६२ हजार

मूल्य : पाच रुपये

मुद्रक :
सिटीजन प्रिटर्स
१८१२, चन्द्रावल रोड
गन्दागज, दिल्ली

विषय-सूची

११६९

प्रकाशकीय

[चतुर्थ संस्करण]

जिनागम के सर्वाधिक महत्वपूर्ण एव मौलिक सिद्धान्त 'क्रमबद्ध-पर्याय' पर गम्भीर विवेचन के रूप मे प्रस्तुत प्रकाशन की चतुर्थावृत्ति प्रकाशित करते हुए अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है। प्रस्तुत कृति हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड और तमिल आत्मधर्म की १५ हजार प्रतियो मे धारावाहिक रूप से निरन्तर प्रकाशित होने के बाद भी ३९,६०० प्रतिया पाच वर्ष की अवधि में समाप्त हो चुकी है, अत: अब हिन्दी मे इसकी ५२०० प्रतियो का यह चतुर्थ सस्करण का प्रकाशन समाज मे इसकी निरन्तर वृद्धिगत लोकप्रियता का प्रबल प्रमाण है। इस पुस्तक की गुजराती मे ११,४०० प्रतिया तथा कन्नड मे १००० प्रतिया प्रकाशित हो चुकी है। इस प्रकार अब तक यह लगभग ६० हजार की सख्या मे प्रकाशित हो चुकी है। अन्य भाषाओ मे भी इसका अनुवाद कार्य चल रहा है जो शीघ्र प्रकाशित होगा। अग्रेजी अनुवाद हो चुका है, वह प्रेस मे है।

इस कृति के प्रकाशन से समाज मे इस विषय के गम्भीर अध्ययन, मनन एव चिन्तन की प्रवृत्ति विकसित हुई है, जो इसकी सफलता का सूचक है।

'क्रमबद्धपर्याय' सम्पूर्ण जिनागम मे तो चर्चित है ही, किन्तु विगत अनेक वर्षो मे समाज मे भी चर्चा का विषय बनी हुई है। इसका श्रेय आध्यात्मिक सत्पुरुष पूज्य श्री कानजी स्वामी को है, जिन्होने इस युग में श्रुत समुद्र का मन्थन करके क्रमबद्धपर्याय जैसे अनेक रत्न तो समाज को दिए ही है, साथ ही निश्चय-व्यवहार, निमित्त-उपादान आदि अनेक विषयो पर आगम सम्मत एव युक्ति और अनुभव की कसौटी पर खरा उतरने वाला विवेचन प्रस्तुत करके समाज मे एक अभूतपूर्व आध्यात्मिक क्रान्ति का शखनाद किया है।

यहा यह विचारणीय है कि आखिर यह 'क्रमबद्धपर्याय' क्या चीज है ? तथा इसे समझने की क्या आवश्यकता है।

क्रमबद्धपर्याय का स्वरूप समझने की आवश्यक्ता तो उसका स्वरूप समझने से ही समझी जा सकती है। जगत की प्रत्येक सत्ता उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है। प्रत्येक द्रव्य मे प्रति समय नवीन पर्याय का उत्पाद और वर्तमान पर्याय का व्यय होता रहता है तथा द्रव्य अपने स्वरूप मे कायम रहता है।

वस्तु के इस परिणमन स्वभाव के बारे में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि इस परिणमन का कोई स्वभावगत नियम है या हम उसमें चाहे जब चाहे जैसा परिणमन कर सकते है ।

'क्रमबद्धपर्याय' इसी प्रश्न का एक मात्र समाधान है, और वह यह कि प्रत्येक वस्तु एक निश्चित क्रमानुसार ही परिणमित होती है । किस वस्तु मे, किस समय, कौनसी पर्याय उत्पन्न होगी—यह निश्चित ही है । अत 'क्रमबद्धपर्याय' वस्तु के परिणमन की व्यवस्था है । प्रतिसमय की योग्यतानुसार निश्चित क्रम मे परिणमन होने का नियम ही क्रमबद्धपर्याय है।

इस सन्दर्भ मे यह जिज्ञासा सहज होती है कि वस्तु मे होने वाले परिणमन के क्रम का निर्धारण कौन करता है ? हमें तो अपनी इच्छा एव प्रयत्नानुसार वस्तु का परिणमन दिख रहा है, इसलिए यह कैसे माना जाए कि वस्तु में इस समय जो पर्याय उत्पन्न हुई है, उसका इसी समय उत्पन्न होना पहले से निश्चित था ?

वस्तु के क्रमबद्ध परिणमन के विषय मे उठने वाली इस जिज्ञासा के समाधान के लिए सर्वज्ञता का आधार लेना अपरिहार्य हो जाता है । निश्चित क्रमानुसार परिणमन किसने देखा ? इसका एकमात्र समाधान यही है–सर्वज्ञ ने देखा, क्योकि सर्वज्ञ के ज्ञान मे प्रत्येक वस्तु की भूत-भविष्य-वर्तमान की समस्त पर्यायें वर्त्तमानवत् ज्ञात होती है तथा वस्तु का परिणमन सर्वज्ञ द्वारा ज्ञात क्रमानुसार ही होता है अन्यथा सर्वज्ञ का ज्ञान सम्यक् ही न ठहरेगा ।

सर्वज्ञता के दर्पण मे वस्तु के परिणमन की क्रमबद्ध व्यवस्था को सहज जाना जा सकता है । यहा यह बात ध्यान देने योग्य है कि सर्वज्ञ का ज्ञान वस्तु के परिणमन का क्रम निश्चित करने वाला नही है, निश्चित क्रमानुसार परिणमन तो वस्तु का स्वभाव ही है । केवलज्ञान तो मात्र उस क्रम का ज्ञाता है, जिस क्रम से वस्तु परिणमित होती है ।

सर्वज्ञ द्वारा ज्ञात क्रमानुसार परिणमन करने मे वस्तु केवलज्ञान के अधीन नही हो जाती, वह तो अपनी स्वाधीन योग्यतानुसार ही परिणमित होती है । केवलज्ञान मे तो वह अपने प्रमेयत्व गुण के कारण सहज ज्ञात होती है । इस प्रकार सर्वज्ञता और क्रमबद्धपर्याय मे कारण–कार्य सम्बन्ध न होकर द्योतक–द्योत्य सम्बन्ध मे, सर्वज्ञता क्रमबद्ध परिणमन की ज्ञायक है, कारक नहीं ।

समाज के लोकप्रिय प्रवचनकार एव गूढ चिन्तक डा० हुकमचन्दजी भारिल्ल अपने प्रवचनो मे प्राय. इस विषय पर विवेचन किया करते थे, जिसे सुनकर मुझे यह महसूस होता था कि एक घटे के प्रवचन मे सभी

पहलुओ से विषय स्पष्ट नही हो पाता तथा लिखित रूप मे न होने से जितना स्पष्टीकरण होता है, वह भी स्थाई नही रह पाता। एतदर्थ मैने अनेक बार उनसे अनुरोध किया कि इस विषय से सम्बन्धित पहलुओ को लिपिबद्ध कर दिया जाए तो जनसाधारण भी इस विषय को सरलता से हृदयगम कर सके।

डाक्टर साहब का जीवन भी 'क्रमबद्धपर्याय' का स्वरूप समझने से ही बदला है, जिसे उन्होने 'अपनी बात' मे स्पष्ट किया है। मेरे अनुरोध को स्वीकार कर उन्होने इस विषय पर ५ जनवरी, १६७६ से लिखना प्रारम्भ किया और फरवरी, १६७६ से आत्मधर्म में सम्पादकीय के रूप मे यह लेख माला प्रारम्भ हुई तथा ६ दिसम्बर १६७६ को पूर्ण हुई, जो अब इस पुस्तक के रूप में साहित्य की अमूल्य निधि बन गई है।

क्रमबद्धपर्याय को समझने मे एकान्त नियतवाद एव पुरुषार्थहीनता का भय सर्वाधिक बाधक तत्त्व है। एकान्त नियतवाद के भय से आक्रान्त लोग कहते है—यदि सब कुछ निश्चित मान लिया जाए तो लोक में कोई व्यवस्था ही नही रह जाएगी। फिर अपराधी को दण्ड क्यो दिया जाए? क्योकि उस समय उससे अपराध होना ही था इसलिए हुआ, इसमे अपराधी का क्या दोष ?

इसप्रकार कुछ लोगो को व्यवस्थित परिमणन स्वीकार करने मे अव्यवस्था नजर आती है, परन्तु यदि समग्र परिमणन व्यवस्था पर गभीरता से विचार किया जाए तो कोई अव्यवस्था नही, बल्कि सुन्दरतम व्यवस्था ख्याल मे आएगी।

यदि अपराधी के क्रम में अपराध होना निश्चित है तो उसका दण्ड भोगना भी तो निश्चित ही है। अज्ञानी 'ऐसा ही होना था' की आड मे अपराध करने की खुली छूट चाहे, परन्तु दण्ड मिलते समय 'दण्ड मिलना ही था' यह स्वीकार न करे तो इससे उसके क्रम मे होने वाला दण्ड रुक नही जाएगा। यदि किसी के परिमणन मे हिंसादि पाप निश्चित है, तो उनके फल में उसका नरकादि मे जाना भी निश्चित ही है।

अपराध करने के लिए तो यह अपराध का निश्चित क्रम स्वीकार कर लेता है, परन्तु दण्ड का निश्चित क्रम स्वीकार नही करता, पर जब मोक्ष का पुरुषार्थ करने की प्रेरणा दी जाए तो कहता है कि जब मोक्ष होना निश्चित ही है तो मै पुरुषार्थ क्यो करू ? वह तो हो ही जाएगा।

मोक्ष को निश्चित मानने मे उसे मोक्ष का पुरुषार्थ निरर्थक नजर आता है, इसलिए क्रमबद्धपर्याय को स्वीकार करने मे पुरुषार्थ उड जाने के भय से ग्रस्त रहता है ।

वास्तव मे देखा जाए तो वीर्य गुण के कारण प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय अपने समय मे पुरुषार्थपूर्वक ही होती है । इसलिए कोई भी आत्मा कभी भी पुरुषार्थ रहित हो ही नही सकता ।

शास्त्रो मे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ कहे गए हैं । प्रत्येक जीव के वीर्य का स्फुरण इन चार रूपो मे ही होता है । अज्ञानी जीव पचेन्द्रिय विषयो मे सुखबुद्धि होने से पर के कर्तृत्व के अहकार से दग्ध रहता हुआ निरन्तर अर्थ एव काम पुरुषार्थ मे रत रहता है तथा वही जीव ज्ञानी होता हुआ वस्तु की स्वतन्त्र परिणमन व्यवस्था को समझकर पर मे कर्तृत्व के अहकार की आकुलता से मुक्त होकर धर्मपुरुषार्थपूर्वक मोक्ष पुरुषार्थ के सम्मुख होता है ।

अज्ञानी ने किसी कार्य विशेष को उत्पन्न करने मे नाना सकल्प-विकल्प करना ही पुरुषार्थ समझ लिया है, जो कि वास्तव मे मिथ्यात्व ही है । और क्रमबद्धपर्याय का स्वरूप समझने से इस मिथ्यात्व का अभाव हो जाता है, जिसे अज्ञानी पुरुषार्थ का अभाव मान बैठता है ।

विद्वान लेखक ने अपने मौलिक चिन्तन की प्रतिभा से जिनागम के आधारपूर्वक एकान्त नियतवाद एव पुरुषार्थहीनता के भय का युक्तिसगत निराकरण करते हुए स्पष्ट किया है कि क्रमबद्ध परिमणन का अर्थ मात्र काल की नियति ही नही, अपितु द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव अथवा स्वभाव, पुरुषार्थ, काललब्धि, भवितव्य (होनहार) एव निमित्त सभी के निश्चित होने का नियम है ।

पाच समवायो मे काललब्धि को मुख्य करके तथा अन्य समवायो को गौण करके कारण-कार्य मीमासा करने से सम्यक् एकान्त होता है तथा अन्य समवायो का अभाव मानने से ही एकान्त नियतिवाद का प्रसग आता है जो मिथ्या होने से किसी भी विचारक को इष्ट नही है ।

क्रमबद्धपर्याय का स्वरूप समझने से सहज ही ज्ञात हो जाता है कि मोक्षमार्ग प्रगट करने के लिए इसे समझना कितना आवश्यक है ? जिनागम का तलस्पर्शी अवगाहन करने मे ज्ञान होगा कि क्रमबद्धपर्याय, सम्यग्दर्शन स्वकर्तृत्व, सहजकर्तृत्व, सम्यक्पुरुषार्थ आदि सभी तथ्य आत्मानुभूति, की प्रक्रिया से सहज गुथे हुए है ।

आत्मानुभूति प्रगट करने हेतु निज त्रैकालिक ज्ञायकस्वभाव मे तन्मय होना अनिवार्य है और क्रमबद्धपर्याय का स्वरूप समझकर और कर्तृत्व-बुद्धि के अभावपूर्वक ही ज्ञायकभाव मे तन्मय हुआ जा सकता है। आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने समयसार गाथा ३०८-११ की आत्मख्याति टीका मे क्रमबद्धपरिणमन द्वारा हो अकर्त्ता-स्वभाव की सिद्धि की है, जिसे लेखक ने पुस्तक के प्रारम्भ में ही उठाया है तथा प्रश्नोत्तर खण्ड मे विशेष स्पष्ट किया है।

इस विषय की गम्भीरता एव महत्त्व को देखते हुए इस बात की महती आवश्यकता थी कि जिनागम में उपलब्ध वस्तु के क्रमबद्ध परिणमन की व्यवस्था के आधार पर सम्यग्पुरुषार्थ से सुमेल विठाते हुए इस पर युक्तिसगत विवेचन प्रस्तुत किया जाए।

इसमे सदेह नही है कि प्रस्तुत कृति उपर्युक्त आवश्यकताओं की पूर्ति मे पूर्णत सफल हुई है। इसमे विषय को जिस जिज्ञासोत्पादक ढग से उठाते हुए सुव्यवस्थित शैली एव सरल भाषा मे सर्वाङ्गीण अनुशीलन किया गया है, उसका लाभ तो पाठक इसका गम्भीर अध्ययन-मनन द्वारा ही उठा सकते हैं।

गम्भीर अनुशीलन के बाद विभिन्न प्रश्नोत्तर द्वारा तो विषय को और भी स्पष्ट कर दिया गया है। पूज्य श्री कानजी स्वामी से लिया गया इन्टरव्यू भी विषय के सम्बन्ध मे पचलित अनेक भ्रान्तियो को दूर कर देता है।

जब आत्मधर्म मे इस विचार पर लेखमाला प्रारम्भ हुई तो हजारो पाठको ने इसका हार्दिक स्वागत किया और सारी समाज मे यह विषय और अधिक चर्चित हो गया। जन-सामान्य में भी इस विषय पर स्वाध्याय, मनन, चिन्तन प्रारम्भ हो गया। लेखमाला के इस सुपरिणाम को देखते हुए अनेक जगह से शीघ्र ही इसे पुस्तकाकार प्रकाशित करने की माग आई। फलस्वरूप प्रस्तुत कृति के पुस्तकाकार प्रकाशन का उपक्रम किया गया।

यह पुस्तक जन-जन को कम से कम मूल्य पर उपलब्ध हो—इस भावना से अनेक महानुभावो ने कीमत कम करने हेतु सहयोग प्रदान किया है, जिनकी सूची आगे के पृष्ठो मे प्रकाशित की जा रही हैं। सभी सहयोगियो के हम आभारी है।

इस सस्करण का मुद्रण कार्य आफसैट पद्धति से किया गया है, अत सुन्दर मुद्रण हेतु सिटीजन प्रिटर्स के मालिक श्री अनिल सचदेव वधाई के पात्र है। साथ ही अखिल बसल जो कि साहित्य प्रकाशन एव प्रचार विभाग का कार्य सम्पादित कर रहे है, का भी हम आभार मानते हैं क्योकि उन्होने कागज क्रय करने मे, मुद्रण तथा बाईण्डिग आदि सभी कार्यो मे कुशलतापूर्वक अपने कृत्य का निर्वहन किया है। और भी अनेक बन्धुओ से इसमे प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से सहयोग प्राप्त हुआ है, अत. उन सभी का भी हृदय से आभारी हू ।

सभी लोग अकर्त्ता-स्वभाव के आश्रय से क्रमबद्धपर्याय का स्वरूप समझकर सम्यक् पुरुषार्थ प्रगट करे-यही मेरी भावना है ।

नेमीचन्द पाटनी
मत्री, प० टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

पुस्तक की कीमत कम करने वाले महानुभावो की सूची

क्र०	नाम दातार	स्थान	रकम
१	श्री शुभकरणजी अभयकरण जी सेठिया	सरदारशहर	५५०/-
२	श्री प्रकाशचन्द गभीरचन्दजी	सेमारी	२५१/-
३	श्री नरेशजी जैन	सरदारशहर	२५१/-
४	श्रीमती कुसुमलता एव सुनन्द बमल	अमलाई	१११/-
५	चौ फूलचन्दजी जैन	बम्बई	१०१/-
६	गुल्कन्दावेन सुन्दरलालजी भिण्ड हस्ते-श्रीचदजी सोनगढ	सोनगढ	१०१/-
७	श्री रमेशचन्द शास्त्री,	जयपुर	१०१/-
८	मै नन्दराम सूरजमल	दिल्ली	१०१/-
९	श्री वी पी जैन शभूनगर	मेरठसिटी	१०१/-
१०	श्री प्रेमचन्दजी जैन, महावीर टेन्ट	अजमेर	१०१/-
११	श्री मदनराज जी छाजेड	जोधपुर	५१/-
		योग	१८२०/-

अपनी बात

'क्रमबद्धपर्याय' औरो के लिए एक सिद्धान्त हो सकती है, एकान्त हो सकती है, अनेकान्त हो सकती है, मजाक हो सकती है, राजनीति हो सकती है, पुरुषार्थप्रेरक या पुरुषार्थनाशक हो सकती है, अधिक क्या कहे किसी को कालकूट जहर भी हो सकती है। किसी के लिए कुछ भी हो – पर मेरे लिए वह जीवन है, अमृत है; क्योकि मेरा वास्तविक जीवन, अमृतमय जीवन, आध्यात्मिक जीवन – इसके ज्ञान, इसकी पकड और इसकी आस्था से ही आरभ हुआ है।

'क्रमबद्धपर्याय' की समझ मेरे जीवन मे मात्र मोड लाने वाली ही नही, अपितु उसे आमूलचूल बदल देने वाली सजीवनी है। मेरी दृढ आस्था है कि जिसकी भी समझ मे इसका सही स्वरूप आयगा, यह तथ्य सही रूप मे उजागर होगा – उसका जीवन भी आनन्दमय, अमृतमय हुए बिना नही रहेगा।

यही कारण है कि मैं इसे घर-घर तक ही नही, अपितु जन-जन तक पहुँचा देना चाहता हूँ, इसे जन-जन की वस्तु बना देना चाहता हूँ।

इसके सम्बन्ध मे बिना विचारे की जाने वाली हल्की-फुल्की चर्चा, हँसी-मजाक मुझे स्वीकार नही, पसद भी नही है। इसे लौकिक धरातल से कुछ ऊपर उठकर समझना होगा, समझाना होगा। इसके सबध मे सामाजिक राजनीति से कुछ ऊपर उठकर बात करनी होगी।

मेरी समझ मे यह कैसे आई – इसकी भी एक कहानी है, इस प्रसग पर जिसके उल्लेख करने का लोभ सवरण कर पाना मेरे लिये सभव नही हो पारहा है।

बात यो हुई कि हम उत्तरप्रदेश के एक गाँव बबीना कन्ट (झाँसी) मे दुकान करते थे। बात ईस्वी सन् १६५६ के दशहरे के आस-पास की है। मेरे अग्रज पडित रतनचदजी शास्त्री दुकान का सामान लेने झाँसी गये थे। वहाँ एक व्यक्ति ने उनसे प्रश्न किया कि जब केवली भगवान ने जैसा देखा-जाना-कहा है, वैसा ही होगा; उसमे कोई फेर-बदल सभव नही है, तो फिर पुरुषार्थ कहाँ रहा ? जब हम कुछ कर ही नही सकते तो फिर हम कुछ करें ही क्यो ?

प्रश्न ने ही उनके हृदय को झकझोर डाला। वे स्तब्ध रह गये। उसके,उत्तर मे उन्होने यद्वा-तद्वा कुछ भी कह कर पाण्डित्य-प्रदर्शन न करके यही कहा – भाई ! तुम बात तो ठीक कहते हो, मैं अभी इसके बारे मे कुछ भी नही कह सकता, अगले शनिवार को आऊँगा तब बात करूँगा।

वह तो चला गया, पर वे रास्ते भर विचार करते रहे। आते ही कोई और बात किए बिना, मुझ से सीधा वही प्रश्न किया। मैं भी विचार मे पड गया। परस्पर चर्चा होती रही, पर बात कुछ मी नही।

शाम को प्रवचन मे भी जब मैंने यही चर्चा की तब एक अभ्यासी बाई बोली – इसमे क्या है ? यह तो कानजी स्वामी की 'क्रमबद्धपर्याय' है। उस समय तक हमने कानजी स्वामी का नाम तो सुन रखा था पर क्रमबद्धपर्याय का तो नाम भी नही सुना था। अत जब अधिक जिज्ञासा प्रकट की तो उन्होने मदिरजी मे से 'आत्मधर्म' के वे दो विशेषाक लाकर दिये जिसमे 'क्रमबद्धपर्याय' पर हुए स्वामीजी के तेरह प्रवचन प्रकाशित हुए थे। प्रथम अक मे आठ प्रवचन थे और दूसरे मे पाँच। ये अक ई० सन् ५४-५५ मे ही निकले थे। बाद मे तो वे ही प्रवचन 'ज्ञानस्वभाव-ज्ञेयस्वभाव' नाम से पुस्तकाकार भी प्रकाशित हुए। उनको पढकर तो हमारे हृदय-कपाट खुल गये। ऐसा लगा कि हमे कोई अपूर्वनिधि मिल गई है। हम कृतकृत्य-से हो गये। फिर क्या था – तभी से गभीर अध्ययन, मनन, चिंतन चर्चा-वार्ता आरम्भ हो गई। इसका रस कुछ ऐसा लगा कि चढती उम्र के सभी रस फीके-से हो गये। 'क्रमबद्धपर्याय' की धुन मे व्यापार का क्रम

गडवडा गया । ग्राहक आकर चला जाता, क्योकि उसकी वात पर कोई ध्यान देने वाला ही न रहा था । उसके जाने पर विचार आता कि इस तरह तो पूरा व्यापार ही चौपट हो जायगा, पर उसी समय क्रमवद्ध की याद आती और कह उठते – जो क्रमवद्ध मे होना होगा, वही तो होगा ।

इस तरह आरभ हुआ अध्ययन-मनन का क्रम चला तो चलता ही रहा । फलस्वरूप निमित्त-उपादान, निश्चय-व्यवहार, कर्त्ता-कर्म आदि सभी का सही स्वरूप स्पष्ट होता चला गया, कही कोई व्यवधान नही आया । वाद मे स्वामीजी के सान्निध्य का लाभ भी प्राप्त हुआ ।

सर्वप्रथम स्वामीजी के दर्शन तब हुए जब वे १९५७ ई० मे शिखरजी की यात्रा पर निकले थे । ववीना पडाव पर बिना कार्यक्रम के ही उन्हे सडक पर बलात् रोक लिया था । वहाँ हमने घटो पूर्व ही स्टेज बनाकर रखी थी और वहाँ सारी समाज उपस्थित थी । स्वामीजी ने वहाँ सिर्फ पाँच मिनट का मागलिक प्रवचन किया था ।

उन्ही के साथ हम सव भी सोनागिरि चले गये । तीन दिन तक वहाँ उनके प्रवचनो का लाभ सपरिवार लिया । उनसे सामान्य चर्चा भी की । उसके कुछ दिनो वाद ही चाँदखेडी मे उनके प्रवचनो का लाभ मिला । उस समय मेरी देव-शास्त्र-गुरु पूजन प्रकाशित ही हुई थी, उसकी जयमाला मे क्रमवद्धपर्याय की पोषक कुछ पक्तियाँ आती हैं । जो इसप्रकार हैं :–

"जो होना है सो निश्चित है, केवलज्ञानी ने गाया है ।
उस पर तो श्रद्धा ला न सका, परिवर्तन का अभिमान किया ।
वन कर पर का कर्त्ता अव तक, सत् का न प्रभो सन्मान किया ।।"

मैंने यह अपनी प्रथम प्रकाशित कृति स्वामीजी को समर्पित की थी । उसके समर्पण मे लिखा था :–

"उन पूज्य श्री कानजी स्वामी के कर-कमलो मे सादर समर्पित, जिन्होने कलिकाल मे 'क्रमवद्धपर्याय' का स्वरूप समझाकर हम जैसे पामर प्राणियो पर अनन्त उपकार किया है ।"

जब मैंने उक्त कृति चाँदखेडी में स्वामीजी को समर्पित की तव उन्होने समर्पण पढकर प्रसन्नता व्यक्त करते हुए कहा –

"तुम क्रमबद्धपर्याय जानते हो ?"

उसके उत्तर मे जब मैंने उत्साहपूर्वक 'हाँ' कहा, तव कहने लगे –

"सोनगढ आना, वहाँ चर्चा करेंगे ।"

उनका हार्दिक आमत्रण पाकर मेरा हृदय गद्गद् हो गया ।

मैं कोटा तक उनके साथ गया । उनका वहाँ तीन दिन का कार्यक्रम था । उनके प्रवचनो का लाभ लेने के लिए मैं भी वहाँ तीन-चार दिन रहा । वहाँ की विशाल सभा मे उनके समक्ष मेरा भी १५ मिनट का व्याख्यान हुआ, जिसमे मैंने अनन्तानुवधी क्रोध, मान, माया और लोभ की व्याख्या की थी, जिसकी वाद मे वहुत सराहना की गई । स्वामीजी ने भी प्रसन्नता व्यक्त की थी ।

उसके वाद सन् १९५८ की जुलाई मे २० दिन के लिए अनेक आत्मार्थी वन्धुओ के साथ हम दोनो सहोदर सोनगढ गये ।

'क्रमबद्धपर्याय' की वात समझ मे आने के पूर्व हमने आचार्य कुन्दकुन्द का नाम तो सुन रखा था, पर उनका कोई ग्रथ पढने की वात तो बहुत दूर, देखा भी नही था । यद्यपि उस समय कोई उम्र भी नही थी, २०-२१ वर्ष के ही थे; पर शास्त्री, न्यायतीर्थ और साहित्यरत्न तो हो ही गये थे । पडित कहलाते थे, व्याख्यान भी खूब देते थे, लोकप्रिय व्याख्याता थे, पर जिनधर्म के मर्म से अपरिचित ही थे ।

करते भी क्या ? न तो पाठ्यक्रम मे आचार्य कुन्दकुन्द का कोई ग्रन्थ था और न ही कही आध्यात्मिक चर्चा का वातावरण ही था । सामाजिक उठा-पटक ही चलती रहती थी, जैन समाज की सभी पत्र-पत्रिकाएँ उसी से भरी रहती थी ।

हम भी तो उसी के रसिक थे, हमे भी आध्यात्मिक रुचि कहाँ थी ? पिताजी की रुचि से जैनदर्शन पढा था, सो भाषा और परिभाषाओ मे पढ डाला था, भावात्मकरूप मे कुछ भी हाथ नही आया था । आरभ से ही क्षयोपशम विशेष था ही, सो कोई भी

व्याख्यान विना चेलेंज के पूरा नही होता था। समझ में शास्त्रों का मर्म तो नही, पर मान तो आ ही गया था।

यदि 'क्रमबद्धपर्याय' की वात ध्यान से न आती तो न जाने क्या होता ? होता क्या, सब-कुछ ऐसे ही चलता रहता और बहुमूल्य मानवभव योंही चला जाता। पर जाता कैसे जवकि हमारी पर्याय के क्रम मे 'क्रमबद्धपर्याय' की बात समझ मे आने का काल पक गया था।

इसके बाद तो इसी कारण अनेक सामाजिक उपद्रवो का भी सामना करना पड़ा, शारीरिक व्याधियाँ भी कम नही रही, पर 'क्रमबद्ध' की श्रद्धा के वल पर आत्मबल कभी टूटा नही। 'क्रमबद्ध-पर्याय' की श्रद्धा एक ऐसी सजीवनी है जो हर स्थिति मे धैर्य को कायम रखती है, शान्ति प्रदान करती है, कर्तृत्व के अहकार को तोडती है, ज्ञाता-दृष्टा बने रहने की पावन प्रेरणा देती है – अधिक क्या, यो कहिये न, कि जीवन को सफल और सार्थक बना देती है।

विगत तेईस वर्षों से 'क्रमबद्धपर्याय' की श्रद्धा अनवरत कायम रही है, कभी भी एक क्षण को उसके सम्बन्ध मे चित्त डोला नही है। यद्यपि इस बीच चिन्तन मे, मनन मे, अध्ययन मे वहुआयामी विकास हुआ है, पर श्रद्धा मे कोई अन्तर नही आया है।

'क्रमवद्धपर्याय' के सम्बन्ध मे मेरे द्वारा १९७९ के आरम्भ से ही निरन्तर जो कुछ लिखा जा रहा है, वह सब विगत तेईस वर्षो के अध्ययन-मनन-चिंतन का परिणाम है। अत पाठक वन्धुओ से मेरा एक विनम्र अनुरोध है कि वे इसे मात्र पढे ही नही, वरन वार-वार पढें, विचार करें, मथन करें, इसकी गहराई मे जावें। इसकी चर्चा भी करे, पर गभीरता से करें – इसे हँसी-मजाक का विषय न वनावें, वान-वात (Prestige Point) का विषय भी न वनावें।

यदि अभी तक इसका विरोध करते रहे हैं, तो भी इसकी स्वीकृति मे हार का अनुभव न करें, क्योकि इसकी स्वीकृति मे हार मे भी जीत है। इसकी सहज स्वीकृति मे जीत ही जीत है, हार है ही नही।

इसके निर्णय मे सर्वज्ञता का निर्णय समाहित है, सर्वज्ञकथित वस्तुस्वरूप का निर्णय समाहित है। मुक्ति का मार्ग आरम्भ करने के

लिए जो कुछ भी आवश्यक है, वह सब-कुछ इसकी श्रद्धा मे आ जाता है।

विगत तेईस वर्षों से सैकडो वार इस पर व्याख्यान किये हैं, उन्हे लिपिबद्ध करने के आग्रह भी श्रोताओ के बहुत रहे हैं, पर अभी तक यह सब लिखा नही जा सका था। 'आत्मधर्म' के सम्पादकीय लिखने की अनिवार्यता ने इसे लिखवा डाला है।

यदि एक भी आत्मार्थी इससे 'क्रमवद्धपर्याय' का सही स्वरूप समझ सका तो मैं अपना श्रम सार्थक समझूंगा।

इसके लिखने में मैं पूर्णत: सजग रहा हूँ। सर्वप्रथम यह निवन्ध जनवरी १९७९ मे १६ पृष्ठो का (२०० प्रतियो मे) प्रकाशित किया था। उसे एलाचार्य मुनि श्री विद्यानन्दजी के सान्निध्य मे जयपुर मे होने वाले सेमिनार मे प्रस्तुत किया था। उक्त सेमिनार मे समागत सभी विद्वानों को तो दिया ही था, और भी अनेक प्रतिष्ठित विद्वानो की सेवा मे निम्नानुसार निवेदन करते हुए भेजा था .–

"यह निवंध अभी अपूर्ण है। आवश्यक सशोधन और परिमार्जन भी शेष हैं। शीघ्र प्रकाश्य इस निवन्ध के सन्दर्भ मे विद्वानो की महत्त्वपूर्ण सलाह, सुझाव, सूचना सानुरोध अपेक्षित है। हम विश्वास दिलाते हैं कि प्रकाशन के पूर्व प्राप्त सुझावो पर गभीरतापूर्वक विचार कर आवश्यक सशोधन अवश्य किए जावेंगे।"

परिणामस्वरूप अनेक विद्वानो के पत्र आये, जिनमे कुछ सुझाव भी थे, वाकी अनुशसा ही अधिक थी।

उनपर गभीरतापूर्वक विचार कर इसे आगे वढाया गया। बीच मे भी कुछ परिवर्द्धन हुआ। इसप्रकार यह २५ पृष्ठ का हो गया। जिसे दुबारा छपाकर फिर एकवार विद्वानो के पास भेजा गया। उसमे भी निम्नानुसार अनुरोध किया गया था :–

"यह निबन्ध आपकी (विद्वानो की) सेवा मे आवश्यक सुझाव व सलाह के लिए लगभग दो माह पूर्व भेजा गया था, तब यह १६ पृष्ठ का था। अब यह परिवर्द्धित होकर इस रूप मे आ गया है; पर अभी भी अपूर्ण है। अभी भी हम आपके महत्त्वपूर्ण सुझावों की

अपेक्षा रखते हैं। वैसे यह अभी आत्मधर्म में सम्पादकीय के रूप में प्रकाशित हो ही रहा है, बाद में इसे पुस्तकाकार प्रकाशित करने की योजना है। जैसाकि पहिले निवेदन किया गया था – हम विश्वास दिलाते हैं कि पुस्तकाकार प्रकाशन के पूर्व प्राप्त सुझावो पर गभीरता-पूर्वक विचार कर आवश्यक संशोधन, परिवर्द्धन अवश्य किये जावेंगे।"

आत्मधर्म के पाठकों से भी अनेक पत्र प्राप्त हुए। सबको ध्यान मे रखते हुए इसे विस्तार दिया गया। चूकि इस विषय को इस युग मे पूज्य श्री कानजी स्वामी ने उठाया था – अतः उनके ताजे विचार भी पाठको तक पहुँचें – इस भावना से उनसे इस सन्दर्भ मे एक इन्टरव्यू भी लिया गया, जो कि हिन्दी आत्मधर्म के सितम्बर, १९७९ के अक मे प्रकाशित हो चुका है।

इस प्रकार फरवरी, १९७९ से सितम्बर, १९७९ तक लगातार हिन्दी आत्मधर्म मे सम्पादकीयो के रूप में यह महानिबध प्रकाशित होता रहा जो कि आत्मधर्म (साइज २० × ३०/८) मे तब तक लगभग ५० पृष्ठो का हो चुका था। इसके बाद अक्टूबर, १९७९ के हिन्दी आत्मधर्म मे 'अपनी बात' शीर्षक से इसके सम्बन्ध मे एक सपादकीय लिखा गया। इसे सर्वांग बनाने के उद्देश्य से उसमे भी जिज्ञासु पाठको एव सम्माननीय विद्वानो से मार्ग-दर्शन चाहा गया और उन्हे विश्वास दिलाया गया कि प्रकाशन से पूर्व प्राप्त सुझावो, सूचनाओ पर गभीरतापूर्वक विचार कर आवश्यक सशोधन, परिवर्तन, परिवर्द्धन, स्पष्टीकरण अवश्य किए जावेंगे, इस महानिबध के परिमार्जन मे उनके सुझावो का भरपूर उपयोग किया जावेगा।

इन सम्पूर्ण आग्रह-अनुरोधो से जो कुछ भी प्राप्त हुआ, उसमे प्रोत्साहन और प्रशसा ही अधिक थी, सुझाव और सलाह कम। फिर भी बार-बार किये गये अनुरोधो के फलस्वरूप जो भी मार्ग-दर्शन मिला, उसका दिल खोलकर लाभ लिया गया है। जो भी प्रश्न प्राप्त हुए उन्हे प्रश्नोत्तरो के रूप मे स्पष्ट करने का प्रयास किया है। बहुत से सम्भावित प्रश्न स्वय उठा-उठाकर समाधान करने का प्रयत्न किया है।

इसप्रकार इस ग्रथ के दो खण्ड हो गए हैं –

१ क्रमबद्धपर्याय एक अनुशीलन

२ क्रमबद्धपर्याय कुछ प्रश्नोत्तर

अन्त में तीन परिशिष्ट भी दिये गये हैं, जिनमे पू० कानजी स्वामी से लिया गया इन्टरव्यू, सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची और विद्वानो के अभिमत दिये गये हैं।

यह वर्ष मेरे लिये 'क्रमबद्धवर्ष' के रूप मे आया। आत्मधर्म मे सम्पादकीयो के रूप मे लगातार इसकी चर्चा करने के कारण इस बीच जहाँ भी प्रवचनार्थ गया, जनता के आग्रह से 'क्रमबद्धपर्याय' पर ही प्रवचन करनें पडे। श्रीसम्मेदशिखरजी, बम्बई, राजकोट, सतना, अजमेर, हस्तिनापुर—यहाँ तक सोनगढ शिविर मे भी लगातार दश दिन तक क्रमबद्धपर्याय पर प्रवचन चले। जयपुर मे तो पूरे वर्ष यह विषय चर्चा का विषय बना रहा है। जिज्ञासु श्रोताओ और मेघावी छात्रो के आग्रह पर इस पर अनेक प्रवचन भी किए हैं, उनसे चर्चाएँ भी खूब हुईं।

'क्रमबद्धमय' वातावरण बना रहने से भी काफी चिन्तन इसके सन्दर्भ में चलता रहा। वह सब-कुछ नही तो वहुत-कुछ तो इसमे आ ही गया है।

इसप्रकार इसे सर्वाङ्ग बनाने का भरपूर उपक्रम किया गया है। फिर भी यदि कोई कमी रह गयी हो तो सभी जिज्ञासु पाठकों एवं सम्मानीय विद्वानों से सानुरोध आग्रह है कि वे उस ओर हमारा ध्यान आकर्षित करें। उनके सुझावो का उपयोग अगले संस्करण मे अवश्य किया जावेगा। हम नही चाहते कि इसमे कोई कमी रह जावे।

जैनदर्शन के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण गभीर इस विषय को निर्विवाद रूप से सर्वाङ्ग प्रस्तुत करने की भावना से ही यह अनुरोध किया गया है। आशा है विद्वज्जन इस पर ध्यान देंगे।

अन्त मे इस पवित्र भावना के साथ अपनी बात समाप्त करता हूँ कि सारा जगत 'क्रमबद्धपर्याय' के सही स्वरूप को समझकर स्वभाव-सन्मुख होकर अनन्त सुखी हो।

— (डॉ०) हुकमचन्द भारिल्ल

प्रथम खण्ड

क्रमबद्धपर्याय : एक अनुशीलन

'क्रमबद्धपर्याय' आज दिगम्बर जैन समाज का बहुचर्चित विषय है। चाहे पक्ष मे हो या विपक्ष मे – पर इसकी चर्चा आज तत्त्वप्रेमी समाज मे सर्वत्र होती देखी जाती है। यद्यपि पूज्य श्री कानजी स्वामी ने इस विषय को बडी ही गभीरता से प्रस्तुत कर अध्यात्म जगत मे एक क्रान्ति का शखनाद कर दिया है और यह महत्त्वपूर्ण विषय समाज मे आज चर्चा का विषय भी बना हुआ है, तथापि इसकी गहराई मे जाने वाले व्यक्ति कम ही नजर आते हैं। जैनदर्शन के इस अनुपम अनुसधान पर जिस गहराई से मथन किया जाना चाहिए, वह दिखाई नही देता।

इस महान दार्शनिक उपलब्धि को व्यर्थ के वाद-विवाद एव सामाजिक राजनीति का विषय बना लिया गया है। यह एक शुद्ध दार्शनिक विषय है। इसे वाद-विवाद एव हसी-मजाक का विषय न बनाकर इस पर विशुद्ध दार्शनिक एव आध्यात्मिक दृष्टिकोण से विचार किया जाना चाहिए। जैनदर्शन से सबधित होने से यहाँ इस विषय पर जैनागम के परिप्रेक्ष्य में सयुक्ति एव सोदाहरण अनुशीलन अपेक्षित है।

'क्रमबद्धपर्याय से' आशय यह है कि इस परिणमनशील जगत की परिणमन-व्यवस्था 'क्रमनियमित' है। जगत मे जो भी परिणमन निरतर हो रहा है, वह सब एक निश्चित क्रम मे व्यवस्थित रूप से हो रहा है। स्थूलदृष्टि से देखने पर जो परिणमन अव्यवस्थित दिखाई देता है, गहराई से विचार करने पर उसमे भी एक सुव्यवस्थित व्यवस्था नजर आती है। जैसे कि नाटक के रगमच पर जो दृश्य व्यवस्थित दिखाये जाते हैं, वे तो पहिले से निश्चित और पूर्ण व्यवस्थित होते ही हैं, किन्तु जो दृश्य अव्यवस्थित दिखाये जाते हैं, वे भी पूर्व नियोजित एव पूर्ण व्यवस्थित होते हैं।

एकदम व्यवस्थित दिखाई जाने वाली किसी रईस की कोठी जिसप्रकार पूर्व नियोजित एव व्यवस्थित होती है; उसीप्रकार अव्यवस्थित दिखाई जाने वाली किसी गरीब की झोपडी भी अनियोजित और अव्यवस्थित नही होती, अपितु वह भी पूर्णतः नियोजित और व्यवस्थित ही होती है। उसकी टूटी खाट और फटे कपड़े दिखाने के लिए पहिले से ही साबुत खाट तोडनी एवं साबुत कपड़े फाडने पडते हैं। कही थाली पडी है और कही लोटा – यह बताने के लिए व्यवस्थित रूप से एक निश्चित स्थान पर थाली और दूसरे निश्चित स्थान पर लोटा रखे जाते हैं।

जिसप्रकार उक्त अव्यवस्थित दिखने वाली व्यवस्था भी पूर्व निश्चित और व्यवस्थित होती है, ठीक उसीप्रकार सम्पूर्ण द्रव्यो का अव्यवस्थित-सा दिखने वाला परिणमन भी पूर्ण निश्चित और व्यवस्थित होता है।

जिसप्रकार नाटक मे दृश्य क्रमश. आते हैं, एक साथ नही, उसीप्रकार प्रत्येक द्रव्य मे पर्यायें क्रमश. ही होती है, एक साथ नही। नाटक में यह भी तो निश्चित होता है कि किस दृश्य के बाद कौन-सा दृश्य आयेगा, उसीप्रकार पर्यायो मे भी यह निश्चित होता है कि किसके बाद कौनसी पर्याय आवेगी। जिसप्रकार जिसके बाद जो दृश्य आना निश्चित होता है, उसके बाद वही दृश्य आता है, अन्य नही; उसीप्रकार जिसके बाद जो पर्याय (कार्य) होनी होती है, वही होती है, अन्य नही। इसी का नाम 'क्रमबद्धपर्याय' है।

प्रत्येक द्रव्य की वह परिणमन-व्यवस्था व्यवस्थित ही नही, स्वाधीन भी है, किसी अन्य द्रव्य के आधीन नही। एक द्रव्य के परिणमन मे दूसरे द्रव्य का कोई भी हस्तक्षेप नही है।

जैसा कि सर्वश्रेष्ठ दिगम्बर आचार्य कुन्दकुन्द के प्रसिद्ध ग्रंथराज समयसार की गाथा ३०८ से ३११ तक की आत्मख्याति नामक टीका मे आचार्य अमृतचद्र लिखते हैं :–

"जीवो हि तावत्क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानो जीव एव, नाजीव.; एवमजीवोऽपि क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानोऽजीव एव, न जीव.।

प्रथम तो जीव क्रमनियमित (क्रमबद्ध) ऐसे अपने परिणामो से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नही, इसीप्रकार अजीव भी क्रमनियमित (क्रमबद्ध) अपने परिणामो से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है, जीव नही।"

यहाँ समस्त जीवो और अजीवो के परिणमन को क्रमनियमित अर्थात् क्रमबद्ध कहा गया है। जीव और अजीव के अतिरिक्त जगत मे और है ही क्या ? जीव और अजीव द्रव्यो के समूह का नाम ही तो विश्व अर्थात् जगत है। इसप्रकार समस्त जगत का परिणमन ही क्रमनियमित अर्थात् क्रमबद्ध कहा गया है।

'क्रमनियमित' और 'क्रमबद्ध' शब्द एकार्थवाची ही हैं। जैसा कि जैनतत्त्वमीमासा मे स्पष्ट किया गया है –

"प्रत्येक कार्य अपने स्वकाल मे ही होता है, इसलिए प्रत्येक द्रव्य की पर्यायें क्रमनियमित है। एक के बाद एक अपने-अपने स्वकाल मे निश्चय उपादान के अनुसार होती रहती है।

यहाँ पर 'क्रम' शब्द पर्यायो की क्रमाभिव्यक्ति को दिखलाने के लिए स्वीकार किया है और 'नियमित' शब्द प्रत्येक पर्याय का स्वकाल अपने-अपने निश्चय उपादान के अनुसार नियमित है – यह दिखलाने के लिए दिया गया है।

वर्त्तमान काल मे जिस अर्थ को 'क्रमबद्धपर्याय' शब्द द्वारा व्यक्त किया जाता है, 'क्रमनियमितपर्याय' का वही अर्थ है।"[1]

ध्यान देने योग्य बात यह है कि यहाँ मात्र यह नही कहा गया है कि पर्यायें क्रम से होती हैं, अपितु यह भी कहा गया है कि वे नियमितक्रम मे होती हैं। आशय यह है कि "जिस द्रव्य की, जो पर्याय, जिस काल मे, जिस निमित्त, व जिस पुरुषार्थपूर्वक, जैसी होनी है, उस द्रव्य की, वह पर्याय, उसी काल मे, उसी निमित्त, व उसी पुरुषार्थपूर्वक, वैसी ही होती है, अन्यथा नही" – यह नियम है।

---

[1] जैनतत्त्वमीमासा, द्वितीय सस्करण, पृष्ठ २६८

जैसा कि कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा गया है –

"ज जस्स जम्मि देसे जेरा विहारोरा जम्मि कालम्मि ।
राद जिरारेरा रियद जम्म वा अहव मरए वा ।। ३२१ ।।
त तस्स तम्मि देसे तेरा विहारोरा तम्मि कालम्मि ।
को सक्कदि वारेदु इदो वा तह जिरिंगदो वा ।। ३२२ ।।
एव जो रिच्छयदो जारादि दव्वारिग सव्वपज्जाए ।
सो सद्दिट्ठी सुद्धो जो सकदि सो हु कुद्दिट्ठी ।। ३२३ ।।

जिस जीव के, जिस देश मे, जिस काल मे, जिस विधान से, जो जन्म अथवा मरण जिनदेव ने नियतरूप से जाना है; उस जीव के, उसी देश मे, उसी काल मे, उसी विधान से, वह अवश्य होता है। उसे इन्द्र अथवा जिनेन्द्र कौन टालने मे समर्थ है ? अर्थात् उसे कोई नही टाल सकता है ।

इसप्रकार निश्चय से जो द्रव्यों को और उनकी समस्त पर्यायो को जानता है वह सम्यग्दृष्टि है, और जो इसमे शका करता है वह मिथ्यादृष्टि है ।"

जिनागम मे और भी अनेक स्थानो पर इसप्रकार का भाव व्यक्त किया गया है –

"प्रागेव यदवाप्तव्य येन यत्र यथा यत ।
तत्परिप्राप्यतेऽवश्य तेन तत्र तथा तत ।।[1]

जिसे, जहाँ, जिसकारण से, जिसप्रकार से, जो वस्तु प्राप्त होनी होती है, उसे, वहाँ, उसीकारण से, उसीप्रकार, वही वस्तु अवश्य प्राप्त होती है ।"

"जो-जो देखी वीतराग ने, सो-सो होसी वीरा रे ।
विन देख्यो होसी नहि क्यो ही, काहे होत अधीरा रे ।।
समयो एक वढै नहि घटसी, जो सुख-दुख की पीरा रे ।
तू क्यो सोच करै मन कूडो, होय वज्र ज्यो हीरा रे ।।"[2]

---

१ आचार्य रविषेण : पद्मपुराण, सर्ग ११०, श्लोक ४०

२ भैया भगवतीदास अध्यात्मपद सग्रह, पृष्ठ ८१

तथा

"जा करि जैसें जाहि समय मे, जो होतव[1] जा द्वार ।
सो बनिहै टरिहै कछु नाही, करि लीनौं निरधार ।।
हमकौं कछु भय ना रे, जान लियो संसार ।।टेक।।"[2]

"सम्यग्दृष्टि के ऐसा विचार होय है—जो वस्तु का स्वरूप सर्वज्ञ ने जैसा जान्या है, तैसा निरंतर परिणमै है, सो होय है। इष्ट-अनिष्ट मान दुखी-सुखी होना निष्फल है। ऐसे विचार तै दुख मिटै है, यह प्रत्यक्ष अनुभवगोचर है।"[3]

"बहुरि सम्यग्दृष्टिकै ऐसा निश्चय है—जिस जीव के जिस देश मे जिस काल मे जिस विधान करकै जन्म वा मरण वा लाभ-अलाभ सुख-दुःख होना जिनेन्द्र भगवान दिव्यज्ञानकरि जान्या है, तिस जीव के तिस देश मे तिस काल मे तिस विधान करकै जन्म-मरण लाभ-अलाभ नियम तै होय ही, ताहि दूर करने कू कोऊ इन्द्र अहमिन्द्र जिनेन्द्र समर्थ नाही हैं।"[4]

उक्त प्रकरणो मे प्राय सर्वत्र ही सर्वज्ञ के ज्ञान को आधार मान कर भविष्य को निश्चित निरूपित किया गया है और उसके आधार पर अधीर नही होने का एव निर्भय रहने का उपदेश दिया गया है। स्वामी कार्तिकेय ने तो ऐसी श्रद्धा वाले को ही सम्यग्दृष्टि घोषित किया है और इसप्रकार नही मानने वाले को मिथ्यादृष्टि कहने मे भी उन्हे किंचित् भी संकोच नही हुआ।

इसप्रकार हम देखते है कि 'क्रमबद्धपर्याय' की सिद्धि मे सर्वज्ञता सबसे प्रबल हेतु है।

---

[1] भवितव्यता।

[2] बुधजन अध्यात्मपद संग्रह, पृष्ठ ७९

[3] पं० जयचंदजी छाबडा मोक्षपाहुड, गाथा ८६ का भावार्थ

[4] पं० सदासुखदासजी कासलीवाल रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक १३७ का भावार्थ

निष्पन्न पर्यायो की क्रमबद्धता स्वीकार करने मे तो जगत को कोई बाधा नजर नही आती, किन्तु जब अनिष्पन्न भावी पर्यायो को भी निश्चित कहा जाता है तो जगत चौक उठता है। उसे लगता है कि यदि सब-कुछ निश्चित ही है तो फिर हमारा यह करना-धरना सब बेकार है। कर्त्तृत्व के अभिमान की जिस दीवार को वह ठोस आधार मानकर खडा था, अकड रहा था, जब वह ढहती नजर आती है, तो एकदम बौखला जाता है। उसकी बौखलाहट यहाँ तक बढती है कि जैसा सर्वज्ञ भगवान को और उनकी सर्वज्ञता को वह अभी तक हृदय से(बुद्धि से नही)स्वीकार कर रहा था – उसके प्रति भी शकित हो उठता है, उसका भी विरोध करने लगता है।

चूकि अभी तक सर्वज्ञ की सत्ता स्वीकार करता रहा है, अत एकदम तो उससे मुकर नही पाता; अत सर्वज्ञता की व्याख्यायें बदलने लगता है। कभी कहता है कि वे भूतकाल और वर्त्तमान को तो जानते हैं, पर भविष्य को नही, क्योकि भूतकाल मे तो जो कुछ होना था सो हो चुका और वर्त्तमान हो ही रहा है, अत. उन्हे जानने मे तो कोई आपत्ति नही, पर भविष्य की घटनाएँ जब अभी घटित ही नही हुई तो उन्हे जानेंगे ही क्या ? कभी कहता है कि भविष्य को जानते तो है, किन्तु सशर्त्त जानते हैं। जैसे – जो पुण्य करेगा वह सुखी होगा और जो पाप करेगा वह दुखी होगा। जो पढेगा वह पास होगा, और जो नही पढ़ेगा वह पास नही होगा – आदि न जाने कितने रास्ते निकालता है।

पर उसका यह अथक् प्रयास निष्फल ही रहता है, क्योकि कोई रास्ता है ही नही तो निकलेगा कहाँ से ? यह कैसे हो सकता है कि वह सर्वज्ञ तो माने, पर भविष्यज्ञ नही। सर्वज्ञ का अर्थ त्रिकालज्ञ होता है। जो भविष्य को न जान सके वह कैसा सर्वज्ञ ? सर्वज्ञ की व्याख्या तो ऐसी है कि जो सबको जाने सो सर्वज्ञ। कहा भी है –

"सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य"[1]

केवलज्ञान का विषय तो समस्त द्रव्य और उनकी तीनकाल सबधी समस्त पर्यायें हैं।"

---

[1] आचार्य उमास्वामी तत्त्वार्थसूत्र, अ० १, सूत्र २६

जो कुछ हो चुका है, हो रहा है, और भविष्य मे होने वाला है, सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान मे तो वह सब वर्त्तमानवत् स्पष्ट झलकता है।

उक्त सूत्र की व्याख्या करते हुए आचार्य पूज्यपाद लिखते है –

"तेषा पर्यायाश्च त्रिकालभुव प्रत्येकमनन्तानन्तास्तेषु। द्रव्य पर्यायजातं न किंचित्केवलज्ञानस्य विषयभावमतिक्रान्तमस्ति। अपरिमितमाहात्म्य हि तदिति ज्ञापनार्थं सर्वद्रव्यपर्यायेषु इत्युच्यते।[1]

सब द्रव्यो की पृथक्-पृथक् तीनो कालो मे होने वाली अनन्तानन्त पर्यायें है। इन सब मे केवलज्ञान की प्रवृत्ति होती है। ऐसा न कोई द्रव्य है और न पर्याय-समूह है जो केवलज्ञान के विषय के परे हो। केवलज्ञान का माहात्म्य अपरिमित है, इसी बात का ज्ञान कराने के लिये सूत्र मे 'सर्वद्रव्यपर्यायेषु' कहा है।"

इसीप्रकार भविष्य का ज्ञान होना तो माने, पर भविष्य का निश्चित होना नही माने, यह कैसे सभव है ? ऐसा तो सर्वसाधारण भी कह सकते है कि जो पढेगा वह पास होगा। इसमे सर्वज्ञ के ज्ञान की दिव्यता क्या रही ?

आचाय कुन्दकुन्द कहते है –

"जदि पच्चक्खमजाद पज्जाय पलयिद व णाणस्स।
ण हवदि वा त णाण दिव्व ति हि के परूवेति॥[2]

यदि अनुत्पन्न (भविष्य की) और विनष्ट (भूत की) पर्याय सर्वज्ञ के ज्ञान मे प्रत्यक्ष न हो तो उस ज्ञान को दिव्य कौन कहेगा ?"

धवला पुस्तक ६ मे इसी बात को इसप्रकार व्यक्त किया है –

"णट्ठाणुप्पण्ण अत्थाण कध तदो परिच्छेदो। ण, केवलत्तादो वज्झत्थावेक्खाए विणा तदुप्पत्तीए विरोहाभावा।

---

[1] सर्वार्थसिद्धि, अ० १, सूत्र २६ की टीका

[2] प्रवचनसार, गाथा ३६

प्रश्न – जो पदार्थ नष्ट हो चुके हैं और जो पदार्थ अभी उत्पन्न नही हुए है, उनका केवलज्ञान से कैसे ज्ञान हो सकता है ?

उत्तर – नही, क्योंकि केवलज्ञान के सहाय-निरपेक्ष होने से बाह्य पदार्थों की अपेक्षाके बिना उनके (विनष्ट और अनुत्पन्न के) ज्ञान की उत्पत्ति मे कोई विरोध नही है ।"[१]

आचार्य अमृतचन्द्र ने सर्वज्ञ द्वारा समस्त ज्ञेयो को एक क्षरण मे सम्पूर्ण गुरण और पर्यायो सहित अत्यन्त स्पष्टरूप से प्रत्यक्ष जानने की चर्चा इसप्रकार की है –

"अथैकस्य ज्ञायकभावस्य समस्तज्ञेयभावस्वभावत्वात् प्रोत्कीर्ण-लिखितनिखातकीलितमज्जितसमावर्तितप्रतिविम्बितवत्तत्र क्रमप्रवृत्ता-नन्तभूतभवद्भाविविचित्रपर्यायप्राग्भारमगाधस्वभाव गम्भीर समस्तमपि द्रव्यजातकेक्षरण एव प्रत्यक्षयन्त······ ।[२]

एक ज्ञायकभाव का समस्त ज्ञेयो को जानने का स्वभाव होने से, क्रमश प्रवर्त्तमान, अनन्त, भूत-वर्त्तमान-भावी विचित्र पर्यायसमूह वाले, अगाधस्वभाव और गम्भीर ऐसे समस्त द्रव्यमात्र को – मानो वे द्रव्य ज्ञायक मे उत्कीर्ण हो गये हो, चित्रित हो गये हो, भीतर घुस गये हो, कीलित हो गये हो, डूब गये हो, समा गये हो, प्रतिबिम्बित हो गये हो, इसप्रकार – एक क्षरण मे ही जो (शुद्धात्मा) प्रत्यक्ष करता है · · ।"

"अलमथवातिविस्तरेरण, अनिवारितप्रसरप्रकाशशालितया क्षायिकज्ञानमवश्यमेव सर्वदा सर्वत्र सर्वथा सर्वमेव जानीयात् ।[3]

अथवा अतिविस्तार से बस हो – जिसका अनिवार फैलाव है, ऐसा प्रकाशमान होने से क्षायिकज्ञान अवश्यमेव, सर्वदा, सर्वत्र, सर्वथा, सर्व को जानता है ।"

---

[१] जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश, भाग २, पृष्ठ १५१

[२] प्रवचनसार, गाथा २०० की तत्त्वप्रदीपिका टीका

[3] प्रवचनसार, गाथा ४७ की तत्त्वप्रदीपिका टीका

भगवती आराधना मे सर्वज्ञ की त्रिकालज्ञता का स्पष्ट उल्लेख इसप्रकार है –

"पस्सदि जाणदि य तहा तिण्णि वि काले सपज्जए सव्वे ।
तह वा लोगमसेस पस्सदि भयव विगदमोहो ।।२१४१।।

वे (सिद्ध परमेष्ठी) सम्पूर्ण द्रव्यो व उनकी पर्यायो से भरे हुए सम्पूर्ण जगत को तीनो कालो मे जानते हैं । तो भी वे मोहरहित ही रहते है ।"

इसीप्रकार का भाव आचार्य अमितगति ने योगसार मे भी व्यक्त किया है –

"अतीता भाविनश्चार्था स्वे-स्वे काले यथाखिला ।
वर्तमानास्ततस्तद्वद्वेक्षि तानपि केवल ।।[1]

भूत और भावी समस्त पदार्थ जिसरूप से अपने-अपने काल मे वर्त्तमान रहते हैं, केवलज्ञान उन्हे भी उसी रूप से जानता है ।"

सर्वज्ञता की सिद्धि आचार्य समन्तभद्र ने आप्तमीमासा मे, आचार्य अकलकदेव ने उसकी टीका अष्टशती मे, एव आचार्य विद्यानदि ने अष्टसहस्त्री मे विस्तार से की है। 'सर्वज्ञसिद्धि' जैनन्यायशास्त्र का एक प्रमुख विषय है। एक प्रकार से सम्पूर्ण न्यायशास्त्र ही सर्वज्ञता की सिद्धि मे समर्पित है। फिर भी जब न्यायविषयक अनेक उपाधियो से विभूषित विद्वद्वर्ग सर्वज्ञता मे भी आशकाएँ व्यक्त करने लगता है या उसकी नई-नई व्याख्यायें प्रस्तुत करने लगता है, तो आश्चर्य हुए बिना नही रहता ।

सर्वज्ञ भगवान का भविष्य सम्बन्धी ज्ञान 'पढेगा तो पास होगा' के रूप मे अनिश्चयात्मक न होकर 'यह पढेगा और अवश्य पास होगा' अथवा 'नही पढेगा और पास भी नही होगा' के रूप मे निश्चयात्मक होता है ।

---

[1] योगसार, अ० १, छन्द २८

भविष्य को निश्चित मानने मे अज्ञानी को वस्तु की स्वतन्त्रता खण्डित होती प्रतीत होती है । पर उसका ध्यान इस ओर नही जाता कि भविष्य को अनिश्चित मानने पर ज्योतिष आदि निमित्तज्ञान काल्पनिक सिद्ध होगे, जबकि सूर्यग्रहण आदि की घोषणाएँ वर्षों पहिले कर दी जाती है और वे सत्य निकलती है । अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञान भी अपनी सीमा मे भविष्य को जानते ही है । लाखो वर्षो आगे के भविष्य की निश्चित घोषणाओ से सर्वज्ञ-कथित जिनागम भरा पडा है और ने समस्त घोषणाएँ 'ऐसा ही होगा' की भाषा मे है । सर्वज्ञ की भविष्यज्ञता से इन्कार करने का अर्थ समस्त जिनागम को तिलाञ्जली देना होगा ।

यदि 'क्रमबद्धपर्याय' की बात पहिले हमारे ध्यान मे नही आई और वह इस युग मे एक ऐसे व्यक्ति के माध्यम से प्रस्तुत हुई जिसे हम किसी कारणवश पसद नही करते है तो इसका मतलब यह तो नही होना चाहिए कि हम सर्वज्ञ की भविष्यज्ञता से भी इन्कार कर अपने पैरो पर ही कुल्हाडी मार ले । इस आत्मघाती कदम उठाने के पूर्व चिन्तक वर्ग से एक बार पुनर्विचार कर लेने का अनुरोध आग्रर्व है ।

अत्यन्त स्पष्ट उक्त आगम प्रमाणो एव अकाट्य युक्तियो से आहत कुछ लोग इन प्रबल प्रहारो से बचने के लिए नियमसार गाथा १५९ का सहारा लेते हैं, जो कि इसप्रकार है -

"जाणदि पस्सदि सव्व ववहारणएण केवली भगव ।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाण ।।

व्यवहारनय से केवली भगवान सब जानते है और देखते है, निश्चयनय से केवलज्ञानी आत्मा को जानता है और देखता है ।"

परमात्मप्रकाश मे भी इसप्रकार का कथन आता है -

"ते पुणु वदउँ सिद्धगण जे अप्पाणि वसत ।
लोयालोउ वि सयलु इहु अच्छहि विमलु णियत ।[1]

---

[1] परमात्मप्रकाश, अ० १, दोहा ५

मैं उन सिद्धो को वन्दता हूँ – जो निश्चय करके अपने स्वरूप मे तिष्ठते हैं, और व्यवहारनय करि लोकालोक को सशयरहित प्रत्यक्ष देखते हुए ठहर रहे हैं।"

उक्त कथनो के आधार पर वे लोग कहते है कि केवली भगवान पर को तो व्यवहार से जानते है, निश्चय से तो जानते नही, और व्यवहार असत्यार्थ है – जैसाकि समयसार गाथा ११ मे कहा है –

"ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धरणओ।
व्यवहार अभूतार्थ है और निश्चयनय भूतार्थ है।"

इसप्रकार जब केवली भगवान पर को जानते ही नही हैं, तो फिर समस्त द्रव्यो की भविष्य की पर्यायो को जानने की बात ही कहाँ रह जाती है ?

पर उनका यह कहना भी पूर्वापर-विचार रहित है। क्योकि एक तो पर को नही जानने से पर के भविष्य को नही जानने की बात कहना तो कुछ समझ मे आ भी सकती है, पर अपने भविष्य को भी नही जानते यह कैसे सिद्ध होगा ? अत यह सिद्ध नही हो सकता कि वे भविष्य को नही जानते।

दूसरी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उन्होने उक्त कथनो के मर्म पर ध्यान ही नही दिया है। यदि उक्त कथनो को पूर्वापर अच्छी तरह देख लिया जाय तो सब-कुछ स्पष्ट हो जाता है।

उक्त सम्पूर्ण कथन 'स्वाश्रितो निश्चय, पराश्रितो व्यवहार – स्वाश्रित कथन को निश्चय और पराश्रित कथन को व्यवहार कहते हैं – इन परिभाषाओ को ध्यान मे रखकर किया गया है। जैसा कि नियमसार की उक्त गाथा की सस्कृत टीका मे स्पष्ट उल्लेख है।

जिसमे 'स्व' की ही अपेक्षा हो, यह निश्चयकथन है और जिसमे 'पर' की अपेक्षा आवे, वह व्यवहारकथन होता है। अत केवली भगवान अपनी आत्मा को देखते-जानते हैं – यह निश्चयकथन हुआ और वे पर को देखते-जानते हैं – यह व्यवहारकथन हुआ, उक्त कथन का तात्पर्य मात्र इतना है। वे पर को व्यवहार से जानते हैं – इसका यह अर्थ कदापि नही कि वे पर को जानते ही नही हैं।

नियमसार की १५९ से १६९ तक की गाथाओ और उनकी सस्कृत टीका को यदि एक वार अच्छी तरह देखलें तो सब बात सहज स्पष्ट हो जाती है। उक्त सम्पूर्ण प्रकरण भगवान की सर्वज्ञता को सिद्ध करने वाला ही है। विस्तार-भय से वह सब यहाँ देना सभव नही है। जिज्ञासु पाठको से उक्त प्रकरण का गहराई से मथन करने का सानुरोध आग्रह है।

आचार्य जयसेन प्रवचनसार गाथा १९ की तात्पर्यवृत्तिनामक टीका मे लिखते हैं :—

"यथायं केवली परकीयद्रव्यपर्यायान् यद्यपि परिच्छित्तिमात्रेण जानाति तथापि निश्चयनयेन सहजानन्दैकस्वभावे स्वशुद्धात्मनि तन्मयत्वेन परिच्छित्ति करोति, तथा निर्मलविवेकिजनोऽपि यद्यपि व्यवहारेण परकीयद्रव्यगुणपर्यायपरिज्ञान करोति, तथापि निश्चयेन निर्विकारस्वसवेदनपर्याये विषयत्वात्पर्यायेण परिज्ञान करोतीति सूत्रतात्पर्यम् ।

परमात्मप्रकाश अध्याय १, गाथा ५२ की टीका मे इसकी चर्चा अत्यन्त स्पष्ट है :–

"कश्चिदाह । यदि व्यवहारेण लोकालोकं जानाति तर्हि व्यवहारनयेन सर्वज्ञत्व, न च निश्चयनयेनेति ।

परिहारमाह – यथा स्वकीयमात्मानं तन्मयत्वेन जानाति तथा परद्रव्य तन्मयत्वेन न जानाति, तेन कारणेन व्यवहारो भण्यते न च परिज्ञानाभावात् । यदि पुनर्निश्चयेन स्वद्रव्यवत्तन्मयो भूत्वा परद्रव्य जानाति तर्हि परकीयसुखदु खरागद्वेषपरिज्ञातो सुखी-दु खी रागी-द्वेषी च स्यादिति महद्दूषण प्राप्नोतीति ।

प्रश्न – यदि केवली भगवान व्यवहारनय से लोकालोक को जानते हैं तो व्यवहारनय से ही उन्हे सर्वज्ञत्व भी होओ परन्तु निश्चयनय से नही ?

उत्तर – जिसप्रकार तन्मय होकर स्वकीय आत्मा को जानते हैं उसीप्रकार परद्रव्य को तन्मय होकर नही जानते, इस कारण व्यवहार कहा गया है, न कि उनके परिज्ञान का ही अभाव होने के कारण । यदि स्वद्रव्य की भाँति परद्रव्य को भी निश्चय से तन्मय होकर जानते तो परकीय सुख व दु ख को जानने से स्वय सुखी-दु.खी और परकीय राग-द्वेष को जानने से स्वय रागी-द्वेषी हो गये होते और इसप्रकार महत् दूषण प्राप्त होता ।"

तार्किकचक्रचूडामणि आचार्य समन्तभद्र रत्नकरण्डश्रावकाचार के मगलाचरण मे श्री वर्द्धमान भगवान के केवलज्ञान मे अलोकाकाश सहित तीनो लोको के समस्त पदार्थों के स्पष्ट झलकने की चर्चा इसप्रकार करते हैं ।

"नम श्री वर्द्धमानाय निर्धूत कलिलात्मने,
सालोकाना त्रिलोकानाम्, यद्विद्या दर्पणायते ।

जिनके केवलज्ञानरूपी दर्पण में अलोकाकाश सहित तीनो लोक झलकते हैं और जिन्होने ज्ञानावरणादि पापरूपी मैल को धो डाला है, उन वर्द्धमान भगवान को नमस्कार हो ।"

इसप्रकार जैन-दर्शन के सर्वमान्य दिग्गज आचार्य श्री कुन्दकुन्द, कार्तिकेय, समन्तभद्र, उमास्वामी, पूज्यपाद, वीरसेन, अमृतचन्द्र, रविषेण आदि अनेक आचार्यों के प्रबल प्रमाणो से सर्वज्ञता और त्रिकालज्ञता सहज सिद्ध है।

उपर्युक्त अनेक प्रमाण देने के बाद भी लोगो का आग्रह रहता है कि आप हमें स्पष्टरूप से बताइये कि क्रमबद्धपर्याय की बात कौनसे शास्त्र मे है ? पर मेरा कहना है कि ऐसा कौनसा शास्त्र है जिसमे क्रमबद्धपर्याय की बात नही है ? चारो ही अनुयोगो के शास्त्रो मे यहाँ तक कि पूजनपाठ में भी कदम-कदम पर क्रमबद्धपर्याय का स्वर मुखरित होता सुनाई देता है।

"भामण्डल की द्युति जगमगात,
भवि देखत निजभव सात-सात"[1]

तीर्थंकर भगवान के प्रभामण्डल मे भव्यजीव को अपने-अपने सात-सात भव दिखाई देते हैं। उन सात भवो मे तीन भूतकाल के, तीन भविष्य के एव एक वर्त्तमान भव दिखाई देता है।

इसके अनुसार प्रत्येक भव्य के कम से कम भविष्य के तीन भव तो निश्चित रहते ही है, अन्यथा वे दिखाई कैसे देते ? तीन भव की आयु एक साथ बंध नही सकती। अत यह भी नही कहा जा सकता कि आयुकर्म बध जाने से भव निश्चित हो गए थे। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि वे पहिले से ही निश्चित रहते हैं, होते नही।

प्रथमानुयोग के सभी शास्त्र भविष्य की निश्चित घोषणाओ से भरे पडे हैं।

भगवान नेमिनाथ ने द्वारका जलने की घोषणा बारह वर्ष पूर्व कर दी थी। साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया था कि किस निमित्त से, कैसे और कब – यह सब-कुछ घटित होगा। अनेक उपायो के बाद भी वह सब-कुछ उसी रूप मे घटित हुआ।

---

[1] कविवर वृन्दावनकृत चन्द्रप्रभ पूजन, जयमाल

हाँ, एक बात अवश्य है कि सुनने वाले लोगो में उक्त बात की प्रतिक्रिया अपने-अपने भवितव्यानुसार भिन्न-भिन्न हुई। जिनका भविष्य अच्छा था, उन्हे उक्त बात सुनकर वैराग्य हो गया। बहुतो ने नग्न दिगम्बर दीक्षा धारण करली, अनेको ने अणुव्रत धारण किये, अनेक सम्यक्ती बने; पर जिनकी अधोगति होनी थी, उन्हे भगवान की बात को टालने का विकल्प आया। वे इस प्रयत्न मे जुट गये कि देखें द्वारका कैसे जलती है? उन्होने अपना सारा पुरुषार्थ मानो भगवान की बात को झूठा सिद्ध करने मे ही लगा दिया।–पर भगवान ने तो जैसा देखा-जाना था, कह दिया था, वे उसके कर्त्ता-धर्त्ता तो थे नही।

भगवान की वाणी मे तो द्वारका जलने के उपादान के साथ-साथ निमित्तो का भी स्पष्ट उल्लेख था, पर निमित्ताधीन दृष्टि वालो का ध्यान उपादान की ओर तो गया ही नही, वे तो निमित्तो को हटाने मे लग गये और अपनी दृष्टि मे निमित्तो को हटाकर अपने को सुरक्षित भी समझने लगे पर···· ···· ।

निमित्ताधीन दृष्टि वालो को भगवान की सर्वज्ञता पर पूरा भरोसा नही होता, उनकी दृष्टि चचल बनी रहती है। यह बात नही कि उन्हे भगवान की बात पर विश्वास ही न था, यदि विश्वास नही होता तो फिर वे डरते क्यो, घबराते क्यो? उसे टालने का असफल प्रयत्न ही क्यो करते? उन्हे विश्वास तो था, पर पक्का विश्वास नही था, भरोसा था, पर पूरा भरोसा नही था। यो ही ढुल-मुल श्रद्धा थी। जिनकी होनहार खोटी होती है, उनकी श्रद्धा सर्वज्ञ पर भी नही टिकती। जिनका ससार अल्प रह जाता है उन्हे ही सर्वज्ञता समझ मे आती है।

भगवान की दिव्यध्वनि मे ऐसा आया कि द्वारका १२ वर्ष वाद जल जावेगी तो अज्ञानियो को ऐसा लगा कि जैसे वारह वर्ष वाद भगवान द्वारका जला देंगे। जवकि भगवान को उससे कुछ लेना-देना नही था। वे तो वीतराग थे, उन्हे किसी से भी रचमात्र राग-द्वेष नही था। अत उनके द्वारा द्वारका जलाये जाने का तो प्रश्न ही नही उठता। किन्तु वे सर्वज्ञ भी थे। अत. भविष्य मे कहां-क्या होगा उसे

वर्त्तमान मे वर्त्तमानवत् स्पष्ट देखते-जानते थे। अत. उन्होने उसी समय बारह वर्ष वाद द्वारका जलती हुई स्पष्ट देखी थी। उसमे बारह वर्ष बाद कैसी लपटे उठेगी उन्हे उस समय स्पष्ट दिखाई दे रही थी। उनकी वाणी मे तो सहज ही यह तथ्य उजागर हो गया था।

उन्होने तो उसे जलाया था ही नही, परन्तु अन्य किसी ने भी उसे नही जलाया था, क्योकि उसमे स्वय उपादानगत ऐसी योग्यता थी कि वह स्वसमय में जल जावेगी। तथा उसका निमित्त कौन होगा – यह भी उस योग्यता मे शामिल था। उसमे पर का कोई कर्त्तृत्व नही था, क्योकि जिन निमित्तो से वह जली वे स्वयं भी नही चाहते थे कि द्वारका जले। इस उपादानगत योग्यता की ओर जगत ध्यान नही देता। इसीकारण जगत का सहज परिणमन उसकी समझ मे नही आता।

भगवान आदिनाथ ने मारीचि के बारे मे एक कोडा-कोड़ी सागर तक कब क्या घटित होने वाला है – सव-कुछ बता ही दिया था। क्या आप उसकी सत्यता मे शकित है? क्या वह सब-कुछ पहिले से निश्चित नही था? असख्य भव पहिले यह वता दिया गया था कि वे चौबीसवें तीर्थंकर होगे। तब तो उनके तीर्थंकर प्रकृति का वन्ध भी नही हुआ था। क्योकि तीर्थंकर प्रकृति वध जाने के बाद असख्य भव नही हो सकते। तीर्थंकर प्रकृति को बाधने वाला तो उसी भव मे, या तीसरे भव मे अवश्य मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। अत यह भी नही कहा जा सकता कि कर्म वध जाने से उनका उतना भविष्य निश्चित हो गया था।

यह सव तो यही सिद्ध करता है कि आदिनाथ के समय से ही यह निश्चित था कि वे चौबीसवे तीर्थंकर होगे। जव चौवीसवें तीर्थंकर होने का निश्चित था तो फिर वीच के भव भी निश्चित ही थे। निश्चित थे – तभी तो जाने जा सके, और वताये भी जा सके।

तिलोयपण्णति, अधिकार ४, श्लोक १००२ से १०१६ तक मे अष्टाग निमित्तज्ञान द्वारा भविष्य जाने जानेका स्पष्ट उल्लेख है। आचार्य भद्रवाहु ने निमित्तज्ञान के आधार पर उत्तर भारत मे वारह

वर्ष के अकाल की घोषणा की थी, जो पूर्णतः सत्य उतरी। सम्राट चन्द्रगुप्त को स्वप्न आए थे, जिनके आधार पर भी भविष्य की घोषणाऐं की गई थी।

तथा क्या करणानुयोग मे यह नही लिखा है कि छह महीने आठ समय मे छहसौ आठ जीव निगोद से निकलेंगे और इतने ही समय में इतने ही जीव मोक्ष भी जावेंगे। क्या इससे अधिक जीव निगोद से निकल सकते है या मोक्ष जा सकते हैं ? क्या यह निश्चित नही है ? है, तो फिर क्या इससे वस्तु की स्वतन्त्रता खण्डित नही होती ? इतने ही जीव मोक्ष क्यो जावेंगे, इससे अधिक क्यो नही ?

करणानुयोग मे चतुर्गति के जीवो की निश्चित सख्या लिखी हुई है और वह कभी कम-बढ भी नही होती। यदि सब-कुछ निश्चित नही है तो फिर जीवो के पाप-पुण्यानुसार नारकियो और देवों की सख्या न्यूनाधिक होती रहनी चाहिए।

करणानुयोग मे यह भी लिखा है कि जीव नित्यनिगोद से दो हजार सागर के लिए निकलता है – उसमे भी दो इन्द्रिय के इतने, तीन इन्द्रिय के इतने, चार इन्द्रिय के इतने भव धारण करता है, मनुष्य के अडतालीस भव मिलते हैं। यह सब क्या है ?

क्या इससे यह निष्कर्ष नही निकलता कि चारों गतियो के जीवो की सख्या निश्चित है और प्रत्येक जीव के भव भी निश्चित हैं तथा उनका क्रम भी निश्चित है, अन्यथा सारी व्यवस्था कैसे बनेगी ? कही तो अधिक भीड इकट्ठी हो जावेगी और कही स्थान खाली पडे रहेगे। पर ऐसा नही होता।

इस पर लोगो को लगता है कि धर्म तो दूर, क्या पुण्य-पाप करना भी हमारे हाथ मे नही है ? हम तो एकदम बध गये।

उनसे हमारा कहना है कि शुभ और अशुभ भाव तो क्रमशः अपने आप बदलते ही रहते हैं। क्योकि दोनो मे से किसी का भी काल अन्तर्मुहूर्त से अधिक नही है, अत. प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त में परिवर्तन अवश्यम्भावी है। अनन्त प्रयत्न करने पर भी आप अन्तर्मुहूत से

अधिक शुभभाव में नही ठहर सकते, यदि शुद्ध मे नही गये तो फिर अशुभ मे आना अनिवार्य है। यह परिवर्तन निगोद मे भी हुआ करता है, वहाँ भी शुभभाव होते हैं, अन्यथा वहाँ से जीव निकले ही कैसे ? सैनी पचेन्द्रिय होने का पुण्य एकेन्द्रिय से लेकर असैनी पचेन्द्रिय तक के जीव असज्ञी दशा में ही बाँधते हैं।

भरत चक्रवर्ती के उन पुत्रों ने, जो कि निगोद से निकलकर एकाधपर्याय को अविवक्षित करके सीधे चक्रवर्ती के पुत्र होकर उसी भव से मोक्ष गये है, मनुष्य भव और चक्रवर्ती के यहाँ उत्पन्न होकर चरम शरीर प्राप्त करने का पुण्य असैनी अवस्था मे ही बाँधा था। पर यह सब सहज क्रम से सम्पन्न हुआ था, संभव हुआ था; वहाँ बुद्धिपूर्वक कुछ भी प्रयत्न नही किया गया था।

जैसा कि कहा है –

नित्य निगोद माँहि ते कढिकर, नर परजाय पाय सुखदानी।
समकित लहि अन्तर्मुहूर्त मे, केवल पाय वरी शिव रानी॥[1]

फिर भी मैं आपसे ही जानना चाहता हूँ कि आप कौन सा पुण्यभाव करने की स्वाधीनता चाहते हैं – तीर्थंकर, चक्रवर्ती या इन्द्रादिपद प्राप्त करने का ? जब तीर्थंकर चौबीस ही होते हैं और वह भी एक क्षेत्र मे एक साथ दो नही, तो क्या दो जीव एक साथ तीर्थंकर होने योग्य पुण्य-बध कर सकते हैं ? यह बात एक क्षेत्र की अपेक्षा कही गई है। यदि आप कहें ढाई द्वीप मे तो एक साथ एकसौ सत्तर तीर्थंकर हो सकते हैं, तो भी मुझे कोई परेशानी नही। क्योकि एकसौ सत्तर ही क्यो, दोसौ क्यो नही ? दोसौ जीव एक साथ ऐसा पुण्य क्यो नही बाध सकते ?

भरत क्षेत्र में जो आगामी चौबीस तीर्थंकर होने वाले हैं, उनके नामों की घोषणायें जिनागम में हो ही चुकी हैं। साथ ही उन जीवो के नाम भी घोषित हो चुके हैं, जिन्हें भावी तीर्थंकर होना है। वह सब निश्चित था तभी तो घोषित हुआ है। क्या उनके अतिरिक्त कोई अन्य जीव तीर्थंकर प्रकृति बाध सकता है ? यदि नही, तो फिर हम सब

---

[1] कविवर भागचन्दजी कृत आध्यात्मिक पद

की तो उन्नीस कोडा-कोडी सागर की छुट्टी हो गई । और आप जानते हैं यह जीव निगोद से निकल कर त्रसपर्याय मे दो हजार सागर को ही आता है । यदि इस बीच मुक्त नही हुआ वो फिर वही निगोद मे चले जाना है । फिर अनतकाल तक कोई ठिकाना नही ।

यदि आप कहे – "न सही भरत के, ऐरावत के या विदेह के तीर्थंकर हो जावेंगे ।" पर भाई साहब ! जब भरत क्षेत्र के तीर्थंकरो की घोषणा हो गई, तो ऐरावत क्षेत्र व विदेह क्षेत्र के तीर्थंकरो की घोषणा भी हो ही गई होगी ? यहाँ के शास्त्रो मे यहाँ का उल्लेख है, वहाँ के शास्त्रो मे वहाँ का उल्लेख होगा ? भाई ! केवली के ज्ञान मे तो सर्वत्र अनन्तकाल तक के होने वाले तीर्थंकरो को घोषणा हो गई है, कोई गुजाइश नही है हिलने-डुलने की ।

यदि कोई कहे – "न सही तीर्थंकर का पुण्य, चक्रवर्ती ही हो जावेंगे ।" पर चक्रवर्ती की सीटें तो और भी कम है । एक क्षेत्र मे जितने काल मे तीर्थंकर चौबीस होते है, उतने ही काल मे चक्रवर्ती तो बारह ही होते हैं । जब तीर्थंकरो का निश्चित है, तो चक्रवर्तियो का भी निश्चित होगा । शास्त्रो मे तो उल्लेख इसलिए नही मिलता कि किस-किस का उल्लेख करें । तीर्थंकरो का उल्लेख करके सामान्यत: यह बता दिया कि सब-कुछ निश्चित है । यही जानना जरूरी भी है । यह जानना कोई जरूरी नही कि किसका क्या होगा ? यदि सबका भविष्य बतावें तो याद भी किस-किस का रहेगा । हर एक को दूसरे का भविष्य जानने मे रुचि भी क्या है ? सब अपना-अपना ही जानना चाहते हैं ।

न सही तीर्थंकर और चक्रवर्ती, पुण्य करके स्वर्ग ही चले जावेंगे । पर वहाँ भी तो सीट खाली हो, तब जाओगे न ? वहाँ अकाल-मृत्यु तो होती नही । यदि कोई देव या इन्द्र अभी-अभी स्वर्ग मे गया है, तो फिर जब तक उसकी आयु पूरी न हो जावे तब तक उस पद के योग्य पुण्य कोई अन्य जीव नही बाध सकता, और उनकी आयु भी तो सागरो की होती है । स्वर्गों की तो क्या बात, बिना सीट खाली हुए तो नरक मे भी जगह नही मिलने वाली है । आपका जब का स्थान सुरक्षित (रिजर्वेशन) होगा तभी सर्वत्र स्थान मिलेगा ।

जिनवाणी के उल्लेखानुसार तो बात ऐसी ही है। यह बात अलग है कि आप जिनवाणी को ही न मानें। पर उससे भी निस्तारा नही मिलेगा। क्योकि फिर तो आपको वहुत-कुछ मानना छोडना होगा। फिर न आप आदिनाथ को मान सकेंगे, न महावीर को। चौवीस तीर्थंकर और बारह चक्रवर्ती भी मानना संभव न होगा। क्योकि यह सब आपने आगम में पढकर ही तो माना है ? जब आगम ही सत्य न रहा तो फिर सब-कुछ साफ है।

आपने कल्पना भी की है कि आपने आगम के आधार पर क्या-क्या मान रखा है ? जरा विचार करके देखिए तो पता चलेगा कि फिर स्वर्ग-नरक सब गायब। वह ही रह जावेगा जो कुछ सामने दिखाई दे रहा है।

मुझे विश्वास है इतने आगे जाने के लिए आप भी तैयार न होगे। यदि मेरी बात मे कुछ दम नजर आता है तो फिर एक बार गभीरता से विचार कीजिये।

जब अपने को प्रथमानुयोग या करणानुयोग का विशेषज्ञ कहने वाले विद्वान भी सम्पूर्ण पर्यायो के क्रमनियमित होने का विरोध करते हैं तब आश्चर्य हुए विना नही रहता, क्योकि प्रथमानुयोग और करणानुयोग में तो कदम-कदम पर इसका प्रबल समर्थन किया गया है।

इसीप्रकार चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग के शास्त्रो मे भी सर्वत्र इसकी प्रतिध्वनि देखी जा सकती है। समयसार (आत्मख्याति) व कार्तिकेयानुप्रेक्षा के उद्धरण तो दिये ही जा चुके हैं। प्रवचनसार गाथा १०२ की तत्त्वप्रदीपिका टीका मे भी पर्याय के जन्मक्षण और नाशक्षण की बात आती है। उससे भी इस बात की पुष्टि होती है।

तथा प्रवचनसार की ही गाथा ९९ की टीका मे विस्तारक्रम की भाँति प्रवाहक्रम (क्रमबद्धपर्याय) को भी हार का दृष्टान्त देकर स्पष्ट किया है, जो इसप्रकार है :-

"जैसे द्रव्य का वास्तु समग्रपने द्वारा (अखण्डता द्वारा) एक होने पर भी, विस्तारक्रम मे प्रवर्त्तमान उसके जो सूक्ष्म अश हैं, वे

प्रदेश हैं; इसीप्रकार द्रव्य की वृत्ति समग्रपने द्वारा एक होने पर भी, प्रवाहक्रम मे प्रवर्त्तमान उसके जो सूक्ष्म अश हैं, वे परिणाम हैं। जैसे विस्तारक्रम का कारण प्रदेशो का परस्पर व्यतिरेक है; उसीप्रकार प्रवाहक्रम का कारण परिणामो का परस्पर व्यतिरेक है।

जैसे वे प्रदेश अपने स्थान मे स्व-रूप से उत्पन्न और पूर्व-रूप से विनष्ट होने से तथा सर्वत्र परस्पर अनुस्यूति से रचित एकवास्तुपने द्वारा अनुत्पन्न-अविनष्ट होने से उत्पत्ति-संहार-ध्रौव्यात्मक हैं, उसी प्रकार वे परिणाम अपने अवसर मे स्व-रूप से उत्पन्न और पूर्व-रूप से विनष्ट होने से तथा सर्वत्र परस्पर अनुस्यूति से रचित एकप्रवाहपने द्वारा अनुत्पन्न-अविनष्ट होने से उत्पत्ति-सहार-ध्रौव्यात्मक हैं।

और जैसे वास्तु का जो छोटे से छोटा अश पूर्वप्रदेश के विनाश-स्वरूप है, वही (अश) उसके बाद के प्रदेश का उत्पादस्वरूप है, तथा वही परस्पर अनुस्यूति से रचित एक वास्तुपने द्वारा अनुभयस्वरूप है (अर्थात् दो मे से एक भी स्वरूप नही है), इसीप्रकार प्रवाह का जो छोटे से छोटा अश पूर्वपरिणाम के विनाशस्वरूप है, वही उसके बाद के परिणाम के उत्पादस्वरूप है, तथा वही परस्पर अनुस्यूति से रचित एकप्रवाहपने द्वारा अनुभयस्वरूप है।

इसप्रकार स्वभाव से ही त्रिलक्षण परिणामपद्धति मे (परिणामो की परम्परा मे) प्रवर्त्तमान द्रव्य स्वभाव का अतिक्रम नही करता, इसलिये सत्त्व को त्रिलक्षण ही अनुमोदना चाहिये – मोतियो के हार की भाँति।

जैसे – जिसने (अमुक) लम्बाई ग्रहण की है ऐसे लटकते हुए मोतियो के हार मे, अपने-अपने स्थानो मे प्रकाशित होते हुए समस्त मोतियो मे, पीछे-पीछे के स्थानो मे पीछे-पीछे के मोती प्रगट होते है इसलिये, और पहले-पहले के मोती प्रगट नही होते इसलिये, तथा सर्वत्र परस्पर अनुस्यूति का रचियता सूत्र अवस्थित होने से त्रिलक्षणत्व प्रसिद्धि को प्राप्त होता है।

इसीप्रकार जिसने नित्यवृत्ति ग्रहण की है ऐसे रचित (परिणमित) द्रव्य मे, अपने-अपने अवसरो मे प्रकाशित (प्रगट) होते

हुए समस्त परिणामो मे, पीछे-पीछे के अवसरो पर पीछे-पीछे के परिणाम प्रगट होते हैं इसलिये, और पहले-पहले के परिणाम नही प्रगट होते है इसलिये, तथा सर्वत्र परस्पर अनुस्यूति रचने वाला प्रवाह अवस्थित होने से त्रिलक्षणपना प्रसिद्धि को प्राप्त होता है।

भावार्थ – जैसे द्रव्य के विस्तार का छोटे-से-छोटा अश वह प्रदेश है, उसीप्रकार द्रव्य के प्रवाह का छोटे-से-छोटा अश वह परिणाम है। प्रत्येक परिणाम स्व-काल मे अपने रूप से उत्पन्न होता है, पूर्व-रूप से नष्ट होता है, और सर्व परिणामो मे एकप्रवाहपना होने से प्रत्येक परिणाम उत्पाद-विनाश से रहित एकरूपध्रुव रहता है। और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य मे समय-भेद नही है, तीनो ही एक ही समय मे है। ऐसे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक परिणामो की परम्परा मे द्रव्य स्वभाव से ही सदा रहता है, इसलिये द्रव्य स्वय भी, मोतियो के हार की भाँति, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है।"

उक्त प्रकरण मे "सर्वत्र परस्पर अनुस्यूतिरचित एकप्रवाह" वाक्य जो कि अनेक बार आया है, ध्यान देने योग्य है। तथा मोतियो के हार के उदाहरण से यह स्पष्ट है कि जैसे हार मे मोतियो का क्षेत्र अपने क्रम मे नियमित है, उसीप्रकार झूलते हुए हार मे उनके प्रगटने का काल भी नियमित है। उसीप्रकार जैसे प्रत्येक द्रव्य मे जैसे उसके प्रदेश (क्षेत्र) नियमित (निश्चित) है, उसीप्रकार उसका कालप्रवाह भी नियमित अर्थात् निश्चित है।

यहाँ क्षेत्र के नियमितक्रम के माध्यम से काल (पर्याय) सबधी नियमितक्रम को स्पष्ट किया गया है। क्योकि क्षेत्र सम्बन्धी क्रमनियमितता आसानी से समझी जा सकती है।

जिसप्रकार द्रव्य को सम्पूर्ण विस्तारक्षेत्ररूप से लक्ष्य मे लिया जाय तो उसका सम्पूर्ण क्षेत्र एक ही है, उसीप्रकार द्रव्य को – तीनोकाल के परिणामो को एक साथ लक्ष्य मे लेने पर उसका काल त्रैकालिक एक है। फिर भी जिसप्रकार क्षेत्र मे एक नियमित प्रदेशक्रम है; उसीप्रकार काल (पर्याय) मे भी पर्यायो का एक नियमित प्रवाहक्रम है।

जिसप्रकार द्रव्य के विस्तारक्रम का अश प्रदेश है; उसीप्रकार द्रव्य के प्रवाहक्रम का अंश पर्याय है ।

यद्यपि यह कथन सम्पूर्ण द्रव्यो की अपेक्षा से है पर यहाँ विस्तारक्रम को यदि आकाशद्रव्य की अपेक्षा समझे तो सुविधा रहेगी । जैसे अनन्तप्रदेशी आकाश का जो प्रदेश जहाँ स्थित है, वह वही रहता है, उसका स्थान परिवर्तन सम्भव नही है, उसीप्रकार सभी द्रव्यो मे प्रदेशो का क्रमनियमित है । यही बात यहाँ मोतियो के हार के दृष्टान्त से स्पष्ट की गई है कि मोतियो के हार मे जो मोती जहाँ स्थित है, उसका स्थानक्रम परिवर्तन सम्भव नही है ।

यद्यपि आकाश अचल (निष्क्रिय) द्रव्य है और जीव और पुद्गल सचल (सक्रिय) द्रव्य हैं, तथापि झूलते हुए हार की बात कहकर यह स्पष्ट कर दिया गया है कि जिसप्रकार झूलते हुए हार मे भी मोतियो का स्थानक्रम नही बदल जाता; उसीप्रकार सक्रिय जीवो मे प्रदेशो का क्रम नही पलटता ।

जिसप्रकार आकाशादि द्रव्यो का विस्तारक्रम नियमित है; उसीप्रकार उनका प्रवाहक्रम भी नियमित है । जिसप्रकार नियमित विस्तारक्रम मे फेर-फार सम्भव नही है, उसीप्रकार नियमित प्रवाह-क्रम मे भी फेर-फार सम्भव नही है । जिसप्रकार प्रत्येक प्रदेश का स्व-स्थान निश्चित है, उसीप्रकार प्रत्येक परिणाम (पर्याय) का स्व-काल भी निश्चित है ।

जिसप्रकार सिनेमा की रील मे लम्बाई है, उस लम्बाई मे जहाँ जो चित्र स्थित है, वह वही रहता है, उसका स्थान परिवर्तन सम्भव नही है, उसीप्रकार चलती हुई रील मे कौनसा चित्र किस क्रम से आएगा यह भी निश्चित है, उसमे भी फेर-फार सम्भव नही है । आगे कौनसा चित्र आएगा – भले ही इसका ज्ञान हमे न हो, पर इससे कोई अन्तर नही पडता, आयगा वो वह अपने नियमितक्रम मे ही ।

जैसे सोपान (जीना) पर सीढियो का क्षेत्र की अपेक्षा एक अपरिवर्तनीय निश्चितक्रम होता है, उसीप्रकार उन पर चढने का अपरिवर्तनीय कालक्रम भी होता है । जिसप्रकार उन पर क्रम से ही चला जा सकता है, उसीप्रकार उन पर चढने का कालक्रम भी है ।

जिसप्रकार जितने लोकाकाश के प्रदेश हैं, उतने ही एक जीव के भी प्रदेश हैं; उसीप्रकार तीन काल के जितने समय हैं, उतनी ही प्रत्येक द्रव्य की पर्यायें हैं। एक-एक समय की एक-एक पर्याय निश्चित है। जैसे लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर एक-एक कालाणु खचित है; उसीप्रकार तीनो काल के एक-एक समय मे प्रत्येक द्रव्य की एक-एक पर्याय खचित है। गुणो की अपेक्षा से विचार करें तो तीनो कालो के एक-एक समय मे प्रत्येक गुण की एक-एक पर्याय भी खचित है। इसप्रकार जब प्रत्येक पर्याय स्वसमय मे खचित है – निश्चित है, तो फिर उसमे अदला-बदली का क्या काम शेष रह जाता है ? इस सन्दर्भ मे टीका में समागत यह वाक्य भी ध्यान देने योग्य है कि "प्रत्येक परिणाम अपने-अपने अवसर पर ही प्रगट होता है"।

इस सबसे यही निष्कर्ष निकलता है कि जिस द्रव्य की, जो पर्याय, जिस समय, जिस कारण से होनी है, वह तदनुसार ही होती है।

प्रसिद्ध तार्किक आचार्य समन्तभद्र स्वयभूस्तोत्र मे लिखते हैं :–

अलव्यशक्तिर्भवितव्यतेय, हेतुद्वयाविष्कृत कार्यलिङ्गा।
अनीश्वरो जन्तुरह क्रियार्त्त. सहत्य कार्येष्विति साध्ववादी ॥३३॥

यहाँ भगवान को सम्बोधित करते हुए आचार्य समन्तभद्र कहते हैं कि हे जिनदेव ! आपने यह ठीक ही कहा है कि हेतुद्वय से उत्पन्न होने वाला कार्य ही जिसका ज्ञापक है ऐसी जो भवितव्यता, उसकी शक्ति अलव्य है अर्थात् उसकी शक्ति को उल्लघन नही किया जा सकता है; जो होना होता है, हो के ही रहता है। फिर भी यह निरीह ससारी प्राणी 'मैं इस कार्य को कर सकता हूँ' – इसप्रकार के अहकार से पीडित रहता है, जबकि भवितव्यता के बिना अनेक सहकारी कारणो को मिलाकर भी कार्य सम्पन्न करने मे समर्थ नही होता।

मुनिराज पद्मनन्दि लिखते हैं :–

"लोकाश्चेतसि चिन्तयन्त्यनुदिन कल्याणमेवात्मन.
कुर्यात्सा भवितव्यतागतवती तत्तत्र यद्रोचते।
मोहोल्लासवशादतिप्रसरतो हित्वा विकल्पान् बहून्
रागद्वेषविषोज्झितैरिति सदा सद्भि. सुख स्थीयताम् ॥५३॥"[1]

---

[1] पद्मनन्दिपचविंशतिका, अ० ३, श्लोक ५३

मनुष्य मन में प्रतिदिन अपने कल्याण का ही विचार करते हैं, किन्तु आई हुई भवितव्यता वही करती है, जो कि उसको रुचता है। इसलिए सज्जन पुरुष राग-द्वेषरूपी विष से रहित होते हुए मोह के प्रभाव से अतिशय विस्तार को प्राप्त होने वाले बहुत से विकल्पो को छोड़कर सदा सुखपूर्वक स्थित रहे।"

पंडितप्रवर आशाधरजी अध्यात्म-रहस्य मे लिखते हैं –

"भवितव्यता भगवतीमधियन्तु रहन्त्वहं करोमीति ।
यदि सद्गुरूपदेशव्यवसित-जिनशासनरहस्या. ।।६६।।

यदि सद्गुरु के उपदेश से जिन-शासन के रहस्य को आपने ठीक निश्चित किया है, समझा है – तो 'मैं करता हूँ' इस अहंकारपूर्ण कर्तृत्व की भावना को छोड़ो और भगवती भवितव्यता का आश्रय ग्रहण करो।"

उक्त छन्द में भवितव्यता को भगवती कहा गया है। इस छन्द की व्याख्या मे पंडित श्री युगलकिशोरजी मुख्तार लिखते हैं :–

"भगवान सर्वज्ञ के ज्ञान मे जो कार्य, जिस समय, जहाँ पर, जिसके द्वारा, जिस प्रकार से होना झलका है, वह, उसी समय, वही पर; उसी के द्वारा, और उसी प्रकार से सम्पन्न होगा। इस भविष्य-विषयक कथन से भवितव्यता के उक्त आशय मे कोई अन्तर नही पडता, क्योकि सर्वज्ञ के ज्ञान मे उस कार्य के साथ उसका कारण-कलाप भी झलका है, सर्वथा नियतिवाद अथवा निर्हेतुकी भवितव्यता जो कि असम्भाव्य है, उस कथन का विषय ही नही है। इसके सिवाय सर्वज्ञ के ज्ञानानुसार पदार्थों का परिणमन नही होता, किन्तु पदार्थों के परिणमनानुसार सर्वज्ञ के ज्ञान मे परिणमन अथवा झलकाव होता है। ज्ञान ज्ञेयाकार है, न कि ज्ञेय ज्ञानाकार।"[1]

आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी ने अपने मोक्षमार्गप्रकाशक मे अनेक स्थानो पर इसकी चर्चा की है। उनके कतिपय कथन इसप्रकार हैं :–

---

[1] अध्यात्म-रहस्य, पृष्ठ ८३

"इसप्रकार क्रोध से बुरा चाहने की इच्छा तो हो, (पर) बुरा होना भवितव्य के आधीन है।........इसप्रकार मान से अपनी महतता की इच्छा तो हो, (पर) महतता होना भवितव्य के आधीन है।........इसप्रकार माया से इष्टसिद्धि के अर्थ छल तो करे, परन्तु इष्टसिद्धि होना भवितव्य के आधीन है।........इसप्रकार लोभ से इष्टप्राप्ति की इच्छा तो हो, परन्तु इष्टप्राप्ति होना भवितव्य के आधीन है।"[1]

कषायपाहुड व धवल मे भी कहा है :–

"प्रश्न – इन (छयासठ) दिनो मे दिव्यध्वनि की प्रवृत्ति किसलिए नही हुई ?

उत्तर – गणधर का अभाव होने के कारण।

प्रश्न – सौधर्म इन्द्र ने उसी समय गणधर को उपस्थित क्यो नही किया ?

उत्तर – नही किया, क्योकि काललब्धि के बिना असहाय सौधर्म इन्द्र के, उनको उपस्थित करने की शक्ति का उस समय अभाव था।"[2]

कार्तिकेयानुप्रेक्षा के उल्लिखित उद्धरण मे तो अत्यन्त स्पष्ट शब्दो मे कहा गया है कि जिसका जो परिणमन जिस द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के अनुसार होना जिनेन्द्रदेव ने देखा है, उसे इन्द्र तो क्या स्वयं जिनेन्द्र भी नही टाल सकते हैं।

इस पर कई लोग कहते है कि यह तो बिल्कुल ठीक है कि जिनेन्द्रदेव नही टाल सकते, क्योकि जैनमान्यतानुसार जिनेन्द्र भगवान जगत के मात्र ज्ञाता-दृष्टा हैं, कर्त्ता-धर्त्ता नही, पर भगवान नही टाल सकते तो क्या हम भी नही टाल सकते हैं ? यदि हम भी नहीं टाल सकते तो फिर तो हम भगवान के ज्ञान के आधीन हो गये। जैसा उन्होने जान लिया, हमे वैसा ही करना होगा, अथवा हमारा परिणमन वैसा ही होगा, जैसा कि भगवान ने जाना है।

[1] मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३६
[2] जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश, भाग २, पृष्ठ ६१४

उनका यह कहना ठीक नही है, क्योकि वस्तु का परिणमन भगवान के ज्ञान के आधीन नही है। जिस रूप मे वस्तु स्वय परिणमित हुई थी, हो रही है, और होगी, भगवान ने तो उसको उस रूप मे मात्र जाना है। ज्ञान तो पर को मात्र जानता है, परिणमाता नही।

जिसप्रकार ज्ञान के आधीन वस्तु नही, उसीप्रकार वस्तु के आधीन ज्ञान भी नही है। दोनो का स्वतत्र परिणमन अपने-अपने कारण से होता है।

मेरी समझ मे यह नही आता कि ज्ञान के द्वारा जान लेने मात्र से वस्तु की स्वतंत्रता किसप्रकार खण्डित हो जाती है। स्वतत्रता ज्ञान से नही, अपने अज्ञान से खण्डित होती है। ज्ञान तो वस्तु के परिणमन मे किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप किए बिना मात्र उसको जानता है।

दूसरे यह कहना कितना हास्यास्पद है कि जो भगवान ने जाना है, उसमे वे स्वय भले ही कोई परिवर्तन न कर सकें, पर मै तो कर सकता हूँ। यह भगवान से भी बड़ा हो गया। जो कार्य अनन्तवीर्य के धनी भगवान भी न कर सकते हो, वह कार्य यह अल्पवीर्यवान होकर भी कर दिखाना चाहता है।

इस पर यदि कोई कहे कि भगवान तो वीतरागी और सर्वज्ञ हैं; वीतरागी होने से उन्हे कुछ भी करने की आकाक्षा नही है और सर्वज्ञ होने से जो कुछ जैसा होना है वह सब वे जानते है; अत. उन्हे कुछ फेर-फार करने का विकल्प नही उठता। पर हम तो रागी-द्वेषी और अल्पज्ञ हैं, न तो हम भविष्य को जानते ही हैं, और हमे कुछ कर दिखाने की तमन्ना भी है, अत हमारी तुलना वीतरागी-सर्वज्ञ भगवान से क्यो करते हो ?

उससे कहते हैं कि यहाँ आचार्यदेव ने 'भगवान पर के कर्त्ता नही है' मात्र इतनी बात नही कही, अपितु 'इन्दो वा' शब्द द्वारा इन्द्र भी नही कर सकता अर्थात् कोई भी नहीं कर सकता है — वाली बात भी कही है।

जिनेन्द्र नही कर सकते अर्थात् सर्वज्ञ और वीतरागी नहीं कर सकते और इन्द्र नही कर सकते अर्थात् रागी और अल्पज्ञ नही कर सकते। 'जिनेन्द्र' के सामने 'इन्द्र' शब्द का प्रयोग कर आचार्य सभी अल्पज्ञों और रागियों की बात करते हैं, क्योंकि रागियो और अल्पज्ञों में इन्द्र ही सर्वशक्तिशाली है। उक्त शंका के समाधान के लिए ही 'इन्द्र' शब्द का प्रयोग किया गया है। पर इस अज्ञानी जगत को भगवान की नही, अपनी चिन्ता है। इसीलिए तो कहता है भले ही भगवान न कर सकें, पर मै तो कर सकता हूँ।

क्रमबद्धपर्याय के पोषक उक्त कथन का उद्देश्य ही पर-कर्तृत्व का निषेध है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्त्ता-हर्त्ता-धर्त्ता नही है – यह मान्यता ही जैनदर्शन का मूलाधार (रीढ़) है।

प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्याय का कर्त्ता स्वयं है। परिणमन उसका धर्म है। अपने परिणमन मे उसे परद्रव्य की रंचमात्र भी अपेक्षा नही है। नित्यता की भाँति परिणमन भी उसका सहज स्वभाव है। अथवा पर्याय की कर्त्ता स्वयं पर्याय है। उसमे तुझे कुछ भी नही करना है, अर्थात् कुछ भी करने की चिन्ता नही करना है। अजीव-द्रव्य पर मे तो कुछ करते ही नही, अपनी पर्यायो को करने की भी चिन्ता नही करते, तो क्या उनका परिणमन अवरुद्ध हो जाता है? नही; तो फिर जीव भी क्यो परिणमन की चिन्ता मे व्यर्थ ही आकुल-व्याकुल हो?

प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्याय के कर्तृत्व मे अथवा वह पर्याय ही अपने परिणमन मे पूर्ण समर्थ है। हे आत्मन्! तुझे उसमे कुछ भी नही करना है, तू व्यर्थ ही उसकी चिन्ता मे अपना भव बिगाड़ रहा है। जिस द्रव्य अथवा पर्याय के परिणमन की चिन्ता तू अपने सिर पर लिए घूम रहा है, झूम रहा है, उसे तेरी अथवा तेरे सहयोग की रंचमात्र भी आवश्यकता नही हैं, परवाह नही है; तू ही बलिष्ठ बैलों द्वारा खीची जाने वाली गाड़ी के नीचे-नीचे चलकर 'मैं ही गाड़ी खीच रहा हूँ' इस अभिमान से ग्रस्त कुत्ते की भाँति आकुल-व्याकुल हो रहा है।

वस्तुस्वरूप तुझे विश्वास दिलाता है कि तू जगत की ओर से निश्चिन्त रह, पर पर-कर्त्तृत्व के अहंकार से ग्रस्त यह कहता है कि बेटा दुकान संभाल ले तो मैं निश्चिन्त हो सकता हूँ। जब-तक जो काम मैं करता हूँ वह काम दूसरा न करने लग जाय, तब-तक मैं कैसे निश्चिन्त हो सकता हूँ ? पर मैं कहता हूँ कि 'क्रमबद्धपर्याय' को छोड़कर आज तक कोई ऐसा बेटा पैदा नही हुआ है जो कर्त्तृत्व के अहकार से ग्रस्त बाप को पूरा निश्चिन्त कर दे। क्रमबद्धपर्याय ही एक ऐसी है कि जो उसे समझे, उस पर श्रद्धा करे, तो निश्चिन्त हो सकता है।

कर्त्तृत्व के अहंकार से ग्रस्त व्यक्ति की समस्या ही यह है कि कोई उसका काम सभाले, तो वह निश्चिन्त हो। यह उसकी समझ मे ही नही आता कि वह पर का या पर्याय का कुछ करता ही नही, अज्ञान के कारण मात्र उनकी चिन्ता करता है। और चिन्ता का कर्त्ता भी तभी तक है जब तक अज्ञान है।

जनदर्शन अकर्त्तावादी दर्शन कहा जाता है। अकर्त्तावाद का अर्थ मात्र इतना ही नही है कि इस जगत का कर्त्ता कोई ईश्वर नही है, अपितु यह भी है कि कोई भी द्रव्य किसी अन्य द्रव्य के परिणमन का कर्त्ता-हर्त्ता नही है। ज्ञानी आत्मा तो अपने विकार का भी कर्त्ता नही होता। यह बात समयसार के कर्त्ता-कर्म अधिकार एव सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार मे विस्तार से स्पष्ट की गई है।

सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार की जिन गाथाओ की टीका मे क्रमनियमितपर्याय का उल्लेख आया है, उनमे अन्ततः अकर्त्तृत्व ही सिद्ध किया है। जैसा कि निम्न पक्तियो से स्पष्ट है :—

"एव हि जीवस्य स्वपरिणामैरुत्पद्यमानस्याप्यजीवेन सह कार्यकारणभावो न सिध्यति, सर्वद्रव्याणा द्रव्यातरेण सहोत्पाद्योत्पादकभावाभावात्, तदसिद्धौ चाजीवस्य जीवकर्मत्व न सिध्यति, तदसिद्धौ च कर्त्तृकर्मणोरनन्यापेक्षासिद्धत्वात् जीवस्याजीवकर्त्तृत्व न सिध्यति। अतो जीवोऽकर्त्ता अवतिष्ठते।

इसप्रकार जीव अपने परिणामो से उत्पन्न होता है तथापि उसका अजीव के साथ कार्यकारणभाव सिद्ध नही होता, क्योकि सर्व

द्रव्यों का अन्य द्रव्य के साथ उत्पाद्य-उत्पादक भाव का अभाव है, उसके (कार्यकारणभाव के) सिद्ध न होने पर, अजीव के जीव का कर्मत्व सिद्ध नही होता; और उसके (अजीव के जीव का कर्मत्व) सिद्ध न होने पर, कर्त्ता-कर्म की अन्यनिरपेक्षतया (अन्य द्रव्य से निरपेक्षतया स्वद्रव्य मे ही) सिद्धि होने से जीव के अजीव का कर्त्तृत्व सिद्ध नही होता। इसलिए जीव अकर्त्ता सिद्ध होता है।

भावार्थ – सर्व द्रव्यो के परिणाम भिन्न-भिन्न हैं। सभी द्रव्य अपने-अपने परिणामो के कर्त्ता है; वे उन परिणामो के कर्त्ता हैं, वे परिणाम उनके कर्म हैं। निश्चय से किसी का किसी के साथ कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध नही है। इसलिए जीव अपने ही परिणामो का कर्त्ता है, और अपने परिणाम कर्म हैं। इसीप्रकार अजीव अपने परिणामो का ही कर्त्ता है, और अपने परिणाम कर्म हैं। इसीप्रकार जीव दूसरे के परिणामो का अकर्त्ता है।"[1]

इसपर कोई कहे न सही पर के परिणमन का कर्त्ता, पर अपने परिणमन का कर्त्ता-हर्त्ता तो मैं हूँ ही। उससे कहते है कि अवश्य हो, क्योकि प्रत्येक द्रव्य अपनी परिणति का कर्त्ता-भोक्ता तो है ही, पर इसका आशय यह नही कि सर्वज्ञ के ज्ञान मे आपका जो भावी परिणमन झलका है, आप उसमे कुछ फेर-फार कर सकते है।

यदि फेर-फार नही कर सकते तो फिर मैं अपनी परिणति का कर्त्ता ही क्या रहा – इसप्रकार की शका भी जगत को होती है, क्योकि जिसने फेर-फार करने को ही करना मान रखा है, वह इससे आगे सोच ही क्या सकता है? क्या फेर-फार करने के बिना कोई करना होता ही नही है? क्या जैसा होना नही हो, वैसा करना ही करना है; जैसा होना हो, वैसा करना करना नही है क्या?

स्वकर्त्तृत्व कहो, सहजकर्त्तृत्व कहो, अकर्त्तृत्व कहो – सबका एक ही अर्थ है। जैन-दर्शन अकर्त्तावादी दर्शन है – इसका भाव ही यही है कि सहजकर्त्तावादी या स्वकर्त्तावादी है, परकर्त्तावादी या फेर-फार

---

[1] समयसार गाथा ३०८ से ३११ की टीका व भावार्थ

कर्त्तावादी नही है । सहज होना और करना एक ही बात है । भविष्य मे हमारा जो होना है, वही होगा अर्थात् हम पुरुषार्थपूर्वक वही करेंगे । इसमे पुरुषार्थ की कही कोई उपेक्षा नही है, कही कोई पराधीनता नही है, सर्वत्र स्वाधीनता का साम्राज्य है । इसमे सभी कुछ है – स्वभाव है, पुरुषार्थ है, भवितव्य है, काललब्धि है, और निमित्त भी है – पाचों ही समवाय उपस्थित हैं ।

आत्मा अपने परिणामो का कर्त्ता है या नही ? इस सदर्भ मे पू० स्वामीजी का स्पष्टीकरण इसप्रकार है :–

"प्रश्न :– पर्यायें क्रमबद्ध हैं, आत्मा की पर्याये भी क्रमबद्ध जो होने योग्य हैं वही होती हैं; इसलिए आत्मा उनका अकर्त्ता है – (क्या) यह बात ठीक है ?

उत्तर – नही; आत्मा अपनी पर्याय का अकर्त्ता है – यह बात ठीक नही है । आत्मा अपनी जिन-जिन क्रमबद्धपर्यायोरूप से परिणमित होता है उनका कर्त्ता वह स्वय ही है; परन्तु यहाँ इतना विशेष समझने योग्य है कि 'आत्मा का ज्ञायकस्वभाव है'– ऐसी जिसकी दृष्टि हुई है अथवा क्रमबद्धपर्याय का निर्णय हुआ है, वह जीव मिथ्यात्वादि भावोरूप से परिणमित होता ही नही । इसलिए मिथ्यात्वादि भावो का तो वह अकर्त्ता ही है तथा जो अल्परागादि विकार होता है, उसमे भी वह एकत्वरूप से परिणमित नही होता । उस अपेक्षा से वह रागादि का भी अकर्त्ता है, किन्तु अपने सम्यग्दर्शन-ज्ञानादि निर्मल 'क्रमबद्धपरिणामो' का तो वह कर्त्ता है ।

'क्रमबद्धपरिणाम' का ऐसा अर्थ नही है कि आत्मा स्वय कर्त्ता बिना हुये ही वह परिणाम हो जाता है । ज्ञानी अपने निर्मल ज्ञानभाव को करता हुआ स्वय उसका कर्त्ता होता है और अज्ञानी अपने अज्ञानभाव को करता हुआ उसका कर्त्ता होता है ।

इसप्रकार प्रत्येक द्रव्य स्वयं ही अपने 'क्रमबद्धपरिणाम' का कर्त्ता है ।"[1]

---

[1] आत्मधर्म, मार्च १९७०, पृष्ठ ५०२

इसी बात को यदि वस्तुस्वरूप की ओर से विचार करें तब भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे, क्योंकि नित्यता के समान परिणमन भी प्रत्येक द्रव्य का स्वभाव है। जिस वस्तु का जो स्वभाव है, उसके होने में पर के सहयोग की क्या आवश्यकता है ? यदि द्रव्य को अपने परिणमन में पर की अपेक्षा हो तो फिर वह उसका स्वभाव ही क्या रहा ? द्रव्य शब्द ही द्रवणशीलता – परिणमनशीलता का द्योतक है। जो स्वयं द्रवे – परिणमे, उसे ही द्रव्य कहते हैं।

प्रत्येक द्रव्य में एक द्रव्यत्व नाम का सामान्यगुण है – शक्ति है। उसके कारण ही द्रव्य परिणमनशील है। परिणमनशीलता द्रव्य का सामान्यधर्म है, सहजधर्म है, स्वाभाविकधर्म है, परनिरपेक्षधर्म है।

जब प्रत्येक द्रव्य स्वयं अपने से द्रव रहा है, अपने नियमित प्रवाह में बह रहा है, सहज क्रमबद्ध परिणम रहा है; तो फिर ऐसी क्या आवश्यकता है कि वह अपने क्रम को भंग करे ? वस्तु के स्वरूप में ऐसा क्या व्यवधान है कि वह अपनी चाल बदले ? और क्यों बदले ? उसे क्या जरूरत है अपनी चाल बदलने की ?

बदले भी कैसे ? जबकि प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय स्व-अवसर पर ही होती है। जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि जितने तीनकाल के समय हैं, उतनी ही प्रत्येक द्रव्य की पर्यायें हैं और एक-एक पर्याय एक-एक समय में खचित है। यदि एक पर्याय को अपने स्थान (समय) से हटाया जाएगा तो वह स्थान (समय) रिक्त हो जाएगा। उस स्थान (समय) की पूर्ति हेतु दूसरी पर्याय कहाँ से आवेगी ? जिस इष्ट पर्याय को आप लाना चाहते हैं, यदि उसे अपने स्थान (समय) से हटाकर वहाँ लाएँगे तो क्या यहाँ की पर्याय वहाँ ले जावेंगे ? जो कि सम्भव नहीं।

आखिर वस्तुस्वरूप की सहज स्वीकृति क्यों नहीं, बलात् परिवर्तन का हठ क्यों ? धर्म तो वस्तुस्वरूप की सहज स्वीकृति का नाम है। वस्तुस्वरूप की सहज परिणति की स्वीकृति ही धर्म का आरम्भ है। ऐसे व्यक्ति की दृष्टि सहज अन्तरोन्मुखी होती है। क्रमबद्ध परिणमन की सहज स्वीकृति वाले जीव की क्रमबद्ध में भी

सहज स्वभाव-सन्मुख परिणमन होता है। वस्तुस्वरूप मे ही ऐसा सुव्यवस्थित सुमेल है।

द्रव्य और गुण के समान पर्याय भी सत् है। प्रवचनसार गाथा १०७ मे इसका स्पष्ट उल्लेख है। द्रव्य और गुण यदि त्रिकालीसत् है तो पर्याय स्वसमय अर्थात् एकसमय की सत् है। जिसप्रकार द्रव्य और गुण की त्रिकालसत्ता को चुनौती (चैलेन्ज) नही दी जा सकती, उसीप्रकार पर्याय की भी स्वसमय सत्ता को चुनौती नही दी जा सकती।

किन्तु द्रव्य और गुणो से बेखबर अज्ञानी की दृष्टि पर्याय पर रहती है, पर्याय के फेर-फार करने के विकल्प मे ही उलझी रहती है। इसी उलझाव के कारण उसकी दृष्टि स्वद्रव्य पर नही जा पाती, वह द्रव्यदृष्टि अर्थात् सम्यग्दृष्टि नही बन पाता।

आगम मे 'पज्जयमूढा हि परसमया'[1] तथा 'जो पज्जएसु णिरदा जीवा परसमइग त्ति णिद्दिट्ठा'[2] कहकर पर्यायदृष्टिवत को मिथ्यादृष्टि और द्रव्यदृष्टिवत को सम्यग्दृष्टि कहा गया है।

द्रव्यदृष्टि प्राप्त करने के लिए पर्यायो की क्रमबद्धता की प्रतीति आवश्यक है। पर्याय भी स्वकाल की सत् है, उसमे भी किसी प्रकार का फेर-फार सम्भव नही – ऐसी प्रतीति होते ही पर्याय की ओर से निश्चिन्त दृष्टि स्वभाव की ओर ढुल जाती है।

क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति बिना दृष्टि का स्वभाव-सन्मुख होना सम्भव नही है, क्योकि पर्यायो मे अपनी इच्छानुकूल फेर-फार करने का भार उस पर बना रहता है। फेर-फार करने के भार से बोझिल दृष्टि मे यह सामर्थ्य नही कि वह स्वभाव की ओर देख सके। दृष्टि के सम्पूर्णत निर्भार हुए बिना अन्तर-प्रवेश सम्भव नही।

कहा भी है :–

> जिनके माथे भार, वे डूबे मझधार मे।
> हम तो उतरे पार, झोक भार को भार मे।।

---

[1] प्रवचनसार, गाथा ६३

[2] वही, गाथा ६४

भार लेकर ऊपर चढना कठिन ही नही, असम्भव है; विशेषकर ऐसा भार जिसके उठाने की भी सामर्थ्य हमारे मे न हो। क्या कोई पर्वत को लेकर पर्वत पर चढ सकता है? नही, कदापि नही। उसीप्रकार परद्रव्य में फेर-फार करने की बुद्धिवाला व्यक्ति निजद्रव्य में प्रवेश नही कर सकता।

यद्यपि स्वय परिणमनशील इस जगत के परिणमन का रचमात्र भी उत्तरदायित्व इसके माथे पर नही है, तथापि अज्ञानी आत्मा स्वय की मिथ्या कल्पना के आरोपित भार से स्वय ही दबा जारहा है।

पर मे तो इसे कुछ करना ही नही है, अपनी पर्याय मे भी कुछ नही करना है। सब-कुछ सहज हो रहा है और होता रहेगा।

कहा भी है :–

"होता स्वय जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम।"

इसपर कुछ लोग कहते हैं कि न सही पर का, पर अपना काम तो करना ही होगा। यदि हम अपना ही काम न करेंगे तो कौन कर जायेगा हमारा काम? खाना-पीना, उठना-बैठना तो करना ही होगा, और यह सब सोच-समझ कर करना होगा, नही तो सब-कुछ गडवडा जायगा, स्वास्थ्य चौपट हो जायगा।

उससे कहते हैं कि जरा विचार तो कर जब तू माँ के पेट मे था, तव सोच-समझकर क्या-क्या करता था? इसीप्रकार जब माह-दो-माह का था, तब भी सोच-समझकर क्या करता था? फिर भी इतना बडा हो गया। और अब बहुत समझदार हो गया है, खूब सोच-समझकर खाता-पीता उठता-बैठता है, फिर भी निरन्तर कमजोर क्यो होता जाता है? अब सभाल ले न इस शरीर को अच्छी तरह, कही यह यही न छूट जाये और तू इसे यही छोडकर चलता बने। पूरी तरह सभाल के रखते-रखते भी एक दिन यही होगा कि यह यही पडा रहेगा और तुझे इसे छोडकर जाना होगा। फिर भी इसमें तुझसे कर्तृत्व का अभिमान नहीं छूटता।

इस शरीर पर तेरा रंचमात्र भी तो वश नही चलता । ये तेरे बाल काले से सफेद तेरे से पूछ कर हुए होगे, चेहरे पर जो झुर्रियाँ दिखाई दे रही हैं, वे भी तेरी स्वीकृति से पडी होगी ?

यदि नही, तो फिर यह क्यो नही स्वीकार करता कि 'होता स्वय जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम'। शरीर भी तो पर है, जिस पर तू अपना कर्त्तृत्व थोप रहा है ।

इस पर कुछ लोग कहते हैं कि जानना-देखना तो आत्मा का स्वभाव है, वह तो करना ही पड़ेगा । उनसे हमारा कहना है कि उसमे करना क्या पड़ेगा ? वह भी तो सहज होता है ।

क्या जाने और क्या न जाने – इसका विवेक तो करना ही पडेगा ? ऐसा थोडे ही चलेगा कि चाहे जो जानते-देखते रहो । कुछ तो मर्यादित होना ही पडेगा, कुछ तो नक्की करना होगा । क्या हम अपने ज्ञान-दर्शन को ऐसा ही छुट्टा छोड दें – सांड जैसा; जो चाहे जहाँ मुंह मारता फिरे; कम से कम उसे तो स्वभाव-सन्मुख करना ही पडेगा । यह सब कैसे चलेगा कि कुछ नही करना है, कुछ नही करना है ? 'ज्ञान को स्वभाव-सन्मुख करो' – कम से कम इतनी बात तो रहने दो ।

यदि ऐसा कोई कहे तो उससे कहते हैं – भाई ! ज्ञान को स्वभाव-सन्मुख करने के विकल्प से ज्ञान स्वभाव-सन्मुख नही होता, अपितु इस विकल्प के भी भार से निर्भार होने पर ज्ञान स्वभाव-सन्मुख ढलता है ।

ज्ञान की प्रत्येक पर्याय स्वकार्य करने मे परमुखापेक्षी नही है । वह अपने मे परिपूर्ण है, स्वकार्य करने मे पूर्ण सक्षम है, पूर्ण सुयोग्य है । उसकी योग्यता मे उसका ज्ञेय भी निश्चित है । ज्ञान की जिस पर्याय मे जिस ज्ञेय को जानने की योग्यता है, वह पर्याय उसी ज्ञेय को अपना विषय बनायेगी, उसमे किसी का कोई हस्तक्षेप नही चल सकता ।

यह एक ध्रुवसत्य है कि ज्ञेय के अनुसार ज्ञान नही होता, अपितु ज्ञान के अनुसार ज्ञेय जाना जाता है, अन्यथा ऐसा क्यो होता है कि जो ज्ञेय सामने है, उसका तो ज्ञान नही होता और जो ज्ञेय सामने

नही है – क्षेत्र-काल से दूर है, उसका ज्ञान होता दिखाई देता है। नवविवाहित ऑफीसर को सामने बैठा क्लर्क दिखाई नही देता, अपितु ऑफिस से दूर घर में या पीहर में बैठी हुई पत्नी दिखाई देती है।

इसीप्रकार का एक श्लोक प्रमेयरत्नमाला मे आता है –

"पिहिते कारागारे तमसि च सूचीमुखाग्रदुर्भेद्ये।
मयि च निमीलितनयने तथापि कान्तानन व्यक्तम् ॥[1]

कारागार मे बन्द कोई कामी कहता है कि यद्यपि कारागार का द्वार बन्द है और अन्धकार इतना सघन है कि सुई के अग्रभाग (नोक) से भी नही भेदा जा सकता है तथा मैंने अपने दोनो नेत्र बन्द कर रखे हैं, तथापि मुझे अपनी प्रिया का मुख स्पष्ट दिखाई दे रहा है।"

इससे यह सिद्ध है कि ज्ञेय के अनुसार ज्ञान नही होता, अपितु ज्ञान के अनुसार ज्ञेय जाना जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि क्षयोपशम ज्ञान मे जिस समय जिस ज्ञेय को जानने की योग्यता होती है, उस समय वही ज्ञेय ज्ञान का विषय बनता है, अन्य नही।

इस बात को न्यायशास्त्र के निम्नलिखित सूत्र से भलीप्रकार समझा जा सकता है :–

"स्वावरणक्षयोपशमलक्षणयोग्यतया हि प्रतिनियतमर्थं व्यवस्थापयति ॥९॥[2]

स्वावरणक्षयोपशम है लक्षण जिसका – ऐसी योग्यता ही यह व्यवस्था करती है कि ज्ञान किसको जाने।"

यहाँ क्षयोपशम ज्ञान किसको जाने और किसको न जाने – इसकी चर्चा चल रही है। केवलज्ञान मे तो यह प्रश्न ही सम्भव नही है, क्योकि वह तो एकसमय मे ही लोकालोक को जानता है।

---

[1] आचार्य अनतवीर्य प्रमेयरत्नमाला, अ० २, सूत्र १२ की टीका
[2] आचार्य माणिक्यनदि परीक्षामुख, अ० २, सूत्र ९

वौद्धो का यह कहना है कि ज्ञान ज्ञेय से उत्पन्न होता है, ज्ञेयाकार होता है, और ज्ञेयो को जानने-वाला होता है; जिसे वे तदुत्पत्ति, तदाकार और तदध्यवसाय के रूप मे प्रस्तुत करते हैं। जैनो को उक्त बात स्वीकार नही है।

इस सन्दर्भ मे वे जैनो से पूछते हैं कि यदि ज्ञान ज्ञेय से उत्पन्न नही होता तो फिर तुम्हारे यहाँ ज्ञान अमुक ज्ञेय को ही क्यो जाने, अन्य को क्यो नही – इसका नियामक कौन होगा ? वौद्धो के यहाँ तो जो ज्ञान जिस ज्ञेय से उत्पन्न होता है, उसी को जानता है – यह व्यवस्था है। जैनों मे इस सन्दर्भ मे क्या व्यवस्था है, इसके उत्तर मे उक्त सूत्र आया है। जिसका आशय है कि योग्यता ही इसकी नियामक है अर्थात् ज्ञान की विवक्षित पर्याय मे जानने की क्षमता के साथ-साथ यह भी निश्चित है कि वह किस ज्ञेय को जानेगी।

योग्यता को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि तत्सम्बन्धी आवरण का क्षयोपशम है लक्षण जिसका ऐसी योग्यता। अर्थात् उस योग्यता मे जिस ज्ञेय को जानना है, तत्सम्बन्धी आवरण का क्षयोपशम होता है।

इस सबसे यही सिद्ध होता है कि ज्ञान की प्रत्येक पर्याय का ज्ञेय भी निश्चित है और वह उसकी योग्यता मे ही सम्मिलित है। जब ज्ञान का ज्ञेय भी निश्चित है तो फिर यह बात कहाँ रह जाती है कि क्या जाने और क्या न जाने – इसका विवेक तो करना ही होगा, इस दिशा मे कुछ न कुछ तो करना ही होगा।

तुझे इतना भी भार अपने माथे पर नही रखना है तव निर्भार होगा और तभी ज्ञान की पर्याय का ज्ञेय आत्मस्वभाव वनेगा अर्थात् दृष्टि स्वभाव-सन्मुख होगी। दृष्टि के स्वभाव-सन्मुख होने का एकमात्र उपाय यही है।

यहाँ यह प्रश्न सम्भव है कि यदि ऐसी बात है तो फिर यह उपदेश क्यो दिया जाता है कि दृष्टि को आत्म-सन्मुख करो, आत्मा को जानो आदि।

इसप्रकार के प्रश्न तो अनेक उठते है। उन सब पर आगे चल कर पृथक् से विचार किया जाएगा।

प्रत्येक द्रव्य पर्वत (अचल) है। उसे चलायमान करने का प्रयत्न करना बालचेष्टा के अतिरिक्त और कुछ नही है। यदि द्रव्य पर्वत (अचल) है तो पर्याय भी पार्वती (अचला) है। जिसप्रकार अचल द्रव्य को चलायमान नही किया जा सकता है, उसीप्रकार अचला पर्याय को भी स्वकाल से चलायमान करना सम्भव नहीं है।

एक समय की भी पर्याय को बदलने के लिए अर्थात् उसे स्वसमय से हटाने और उसके स्थान पर दूसरी पर्याय लाने के लिए यदि सारा जगत भी एक साथ यत्न करे तो भी वह सफल नही होगा, वह उस पर्याय को स्वस्थान से हटा नही सकेगा। द्रव्यस्वभाव तो अनन्तशक्तिशाली है ही, पर पर्यायस्वभाव मे भी अपनी सीमा को सुरक्षित रखने की अनन्त सामर्थ्य है, कोई उसकी सीमा मे प्रवेश नही कर सकता। उसमे फेर-फार करने की बुद्धि वाले जगत को अन्तत. हार ही हाथ लगेगी।

द्रव्य यदि त्रिकाल सत् है तो पर्याय भी स्वकाल की सत् है अर्थात् सती है। इतिहास और पुराण इसके साक्षी है कि सती का सत् (सतीत्व) लूटने वाले कभी सफल नही हुए हैं, अपितु उन्हे अपने उस अक्षम्य अपराध का कठोरतम दण्ड भुगतना पडा है। ध्यान रहे सती पर्याय से छेड-छाड़ करने अर्थात् उसे बदलने की वृत्तिवाले अपराधियो को भी उसका दण्ड भोगना होगा, अनतकाल तक ससार मे भ्रमण करना होगा। पर्याय के सत् का अपमान करने के इस महापाप (मिथ्यात्व) से वे बच न सकेंगे।

द्रव्य और गुणो मे फेर-फार करने का विकल्प न आकर पर्याय मे ही फेर-फार करने का विकल्प क्यों आता है? इसका सहज मनोवैज्ञानिक कारण है। जहाँ फेर-फार करने की गुंजाइश दिखती है, वहाँ ही फेर-फार करने का विकल्प आता है; जहाँ गुंजाइश नही दिखाई देती, वहाँ कुछ करने का विकल्प भी नही उठता है।

जैसे हम किसी अवैध कार्य को कराना चाहते हैं, और उसे करना अनेक सरकारी कर्मचारियो के हाथ मे है; जिस कर्मचारी पर हमे यह भरोसा हो कि यह किसी भी कीमत पर अवैध कार्य नही करेगा, हम उसे करने को कहते भी नही हैं, पर जिस कर्मचारी के बारे मे हम यह समझते हैं कि इससे साम-दाम-दण्ड-भेद से काम कराया जा सकता है, उसीसे हरप्रकार से कार्य कराने का यत्न करते हैं ।

उसीप्रकार द्रव्य और गुण की अचलता प्राय सब के ख्याल मे सहज आ जाती है, अत. उनमे फेर-फार करने की बुद्धि नही होती; किन्तु पर्याय की अचलता सहज ख्याल मे नही आती – यही कारण है कि उसमे फेर-फार करने की बुद्धि बनी रहती है । क्रमबद्धपर्याय की सच्ची समझ बिना पर्यायो की अचलता ख्याल मे नही आती और उनमे फेर-फार करने की बुद्धि बनी ही रहती है ।

पर्यायो मे फेर-फार करने की मिथ्याबुद्धि ही अज्ञान है, कर्त्तावाद है । इसी कर्त्तावादी अज्ञान का निषेध समयसार के कर्त्ता-कर्म अधिकार और सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार मे पूरी शक्ति से किया गया है। जैनदर्शन के अकर्त्तावाद का यही मर्म है ।

जैनदर्शन का अकर्त्तावाद मात्र यही तक सीमित नही कि कोई तथाकथित ईश्वर जगत का कर्त्ता नहीं है । अकर्त्तावाद का व्यापक अर्थ यह है कि कोई भी द्रव्य किसी अन्य द्रव्य का कर्त्ता-हर्त्ता-धर्त्ता नही; यहाँ तक कि अपनी भी क्रमनिश्चित पर्यायो मे वह किसी प्रकार का फेर-फार नही कर सकता है । यद्यपि द्रव्य अपनी पर्यायो का कर्त्ता है, तथापि फेर-फार कर्त्ता नही ।

क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा अथवा उक्त अकर्त्तावादी दृष्टिकोण का एकमात्र सच्चा फल दष्टि का स्वभाव-सन्मुख होना ही है । क्रमबद्ध-पर्याय की विकल्पात्मक श्रद्धा करने के उपरान्त भी यदि दृष्टि स्वभाव-सन्मुख नही हुई तो समझना चाहिए कि उसे क्रमबद्धपर्याय की भी विकल्पात्मक श्रद्धा ही है, सच्ची श्रद्धा नही । क्योंकि क्रमबद्धपर्याय की सच्ची श्रद्धा और दृष्टि का स्वभाव-सन्मुख होकर पर्याय मे सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होने का एक काल है ।

कुछ लोगो का यह भी कहना है कि गोम्मटसार मे नियतिवादी को मिथ्यादृष्टि कहा है[१], यह क्रमबद्धपर्याय भी कुछ वैसी ही है, अतः इसमें भी एकान्त का दोष आता है। पर गोम्मटसार के नियतवाद और क्रमबद्धपर्याय मे बहुत अन्तर है। एकान्तनियतवादी तो पुरुषार्थादि अन्य समवायो की उपेक्षाकर एकान्तनियतवाद का आश्रय लेकर स्वच्छन्दता का पोषण करता है, जबकि क्रमबद्धपर्याय का सिद्धान्त तो पुरुषार्थादि अन्य तथ्यो को साथ लेकर चलता है।

इस सन्दर्भ में जैनेन्द्र सिद्धान्तकोशकार की टिप्पणी दृष्टव्य है :—

"जो कार्य या पर्याय जिस निमित्त के द्वारा जिस द्रव्य मे जिस क्षेत्र व काल मे जिसप्रकार से होना होता है, वह कार्य उसी निमित्त के द्वारा उसी द्रव्य, क्षेत्र व काल में उसीप्रकार से होता है। ऐसी द्रव्य, क्षेत्र, काल व भावरूप चतुष्टय से समुदित नियत कार्य-व्यवस्था को 'नियति' कहते हैं। नियत कर्मोदयरूप निमित्त की अपेक्षा इसे ही 'दैव', नियतकाल की अपेक्षा इसे ही 'काललब्धि' और होने योग्य नियतभाव या कार्य की अपेक्षा इसे ही 'भवितव्य' कहते हैं।

अपने-अपने समयों में क्रमपूर्वक नम्बरवार पर्यायो के प्रगट होने की अपेक्षा श्री कानजी स्वामीजी ने इसके लिए 'क्रमबद्धपर्याय' शब्द का प्रयोग किया है।

यद्यपि करने-धरने के विकल्पोंपूर्ण रागी बुद्धि मे सब-कुछ अनियत प्रतीत होता है, परन्तु निर्विकल्प समाधि के साक्षीमात्र भाव मे विश्व की समस्त कार्यव्यवस्था उपरोक्त प्रकार नियत प्रतीत होती है। अतः वस्तुस्वभाव, निमित्त (दैव), पुरुषार्थ, काललब्धि, व भवितव्य इन पाँचों समवायों से समवेत तो उपरोक्त व्यवस्था सम्यक् है; और इनसे निरपेक्ष वही मिथ्या है। निरुद्यमी पुरुष मिथ्या नियति के आश्रय से पुरुषार्थ का तिरस्कार करते हैं, पर अनेकान्तबुद्धि इस सिद्धान्त को जानकर सर्व बाह्य व्यापार से विरक्त हो एक ज्ञाताद्रष्टा भाव में स्थिति पाती है।"[२]

---

[१] गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, गाथा ८८२

[२] जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश, भाग २, पृष्ठ ६१२

कार्योत्पत्ति मे पच कारणों के समवाय को सम्यक् घोषित करते हुए आचार्यसिद्धसेन सम्मईसुत्त (सन्मति सूत्र) मे लिखते हैं :–

"कालो सहाव णियई पुव्वकय पुरिस कारणेगता ।
मिच्छत ते चेव उ समासओ होति सम्मत ।।५३।।[1]

काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत (निमित्त), और पुरुषार्थ इन पाच कारणो मे से किसी एक से कार्योत्पत्ति मानना एकान्त है, मिथ्यात्व है और इनके समवाय से कार्योत्पत्ति मानना अनेकान्त है, सम्यक्त्व है ।"

पचसमवायो की चर्चा पद्मपुराण मे इसप्रकार है –

"काल: कर्मेश्वरो दैव स्वभाव· पुरुष क्रिया ।
नियतिर्वा करोत्येव विचित्र क समीहितम् ।।[2]

उक्त छन्द मे राम को वनवास और भरत को राज्य दिये जाने पर जनता अपने भाव व्यक्त कर रही है –

ऐसी विचित्र चेष्टा को काल, कर्म, ईश्वर, दैव, स्वभाव, पुरुष, क्रिया अथवा नियति ही कर सकती है और कौन कर सकता है ?"

इसी बात का स्पष्टीकरण करते हुए जैनेन्द्र सिद्धान्तकोशकार लिखते हैं :–

"काल को नियति मे, कर्म व ईश्वर को निमित्त मे, और दैव व क्रिया को भवितव्य मे गर्भित कर देने पर पाँच बातें रह जाती हैं । स्वभाव, निमित्त, नियति, पुरुषार्थ व भवितव्य – इन पाँच समवायो से समवेत ही कार्य-व्यवस्था की सिद्धि है, ऐसा प्रयोजन है ।"[3]

इस सन्दर्भ मे स्वामीजी का स्पष्टीकरण भी देखिए :–

"गोम्मटसार मे जो नियतवाद कहा है वह तो स्वच्छन्दी का है । जो जीव सर्वज्ञ को नही मानता, ज्ञानस्वभाव का निर्णय नहीं करता, जिसने अन्तरोन्मुख होकर समाधान नही किया है, विपरीत

---

[1] सम्मईसुत्त, अ० ३, गाथा ५३

[2] आचार्य रविषेण पद्मपुराण, सर्ग ३१, श्लोक २१३

[3] जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश, भाग २, पृष्ठ ६१८

भावों के उछाले कम भी नहीं किये हैं, और 'जैसा होना होगा' – ऐसा कहकर मात्र स्वच्छन्दी होता है और मिथ्यात्व का पोषण करता है – ऐसे जीव को गोम्मटसार में गृहीतमिथ्यादृष्टि कहा है। किन्तु ज्ञान-स्वभाव के निर्णयपूर्वक यदि इस क्रमबद्धपर्याय को समझे तो ज्ञायक-स्वभाव की ओर के पुरुषार्थ द्वारा मिथ्यात्व और स्वच्छन्द छूट जाय।"[१]

"अज्ञानी कहते हैं कि – इस क्रमबद्धपर्याय को मानें तो पुरुषार्थ उड़ जाता है – किन्तु ऐसा नही है। इस क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करने से कर्त्ताबुद्धि का मिथ्याभिमान उड़ जाता है और निरन्तर ज्ञायकपने का सच्चा पुरुषार्थ होता है। ज्ञानस्वभाव का पुरुषार्थ न करे उसके क्रमबद्धपर्याय का निर्णय भी सच्चा नही है। ज्ञानस्वभाव के पुरुषार्थ द्वारा क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करके जहाँ पर्याय स्व-सन्मुख हुई वहाँ एकसमय मे उस पर्याय मे पाँचो समवाय आ जाते हैं। पुरुषार्थ, स्वभाव, काल, नियत, और कर्म का अभाव – यह पाँचो समवाय एकसमय की पर्याय मे आ जाते हैं।"[२]

"ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से पुरुषार्थ होता है, तथापि पर्याय का क्रम नही टूटता।"[३]

"देखो, यह वस्तुस्थिति ! पुरुषार्थ भी नही उड़ता और क्रम भी नही टूटता। ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रादि का पुरुषार्थ होता है और वैसी निर्मल दशाएँ होती जाती हैं, तथापि पर्याय की क्रमबद्धता नही टूटती।"[४]

उक्त कथनों से स्पष्ट है कि गोम्मटसार मे एकान्तो के कथन मे जो नियतवादी मिथ्यादृष्टि का कथन है उसका क्रमबद्धपर्याय से कोई साम्य नही है। नियतवादी जैसी स्वच्छन्दता का पोषण क्रमबद्ध-पर्याय मे कदापि नही है।

---

[१] ज्ञानस्वभाव-ज्ञेयस्वभाव, पृष्ठ ७

[२] वही, पृष्ठ ११

[३] वही, पृष्ठ ९९

[४] वही, पृष्ठ १००

स्वामीजी के स्पष्टीकरण से भी यह पूर्णत स्पष्ट हो जाता है कि वे एकान्त नियतवाद के पोषक नही हैं, अपितु सच्चे अनेकान्तवादी है।

इस पर कुछ लोग कहते हैं कि आप कुछ भी कहो, पर क्रमवद्ध-पर्याय का सिद्धान्त लगता तो कुछ एकान्त-सा ही है ?

भाई ! आपके लगने को अब हम क्या कहे ? जब अनेक आगम प्रमाणो और युक्तियो से स्पष्ट कर दिया तब भी यदि आपको एकान्त-सा लगता है तो हम क्या करे ? हम तो आपके सामने युक्तियाँ और आगम ही रख सकते हैं, अनुभव तो करा नही सकते।

यदि गहराई से विचार नही करोगे, ऊपर-ऊपर ही सोचोगे तो एकान्त-सा लगेगा ही। गहराई से विचार करने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह मिथ्या-एकान्त नही है।

क्या कहा, मिथ्या-एकान्त नही है ?

हाँ ! हाँ !! सम्यक्-एकान्त तो वह है ही।

क्या एकान्त भी दो तरह का होता है ?

हाँ ! हाँ !! एकान्त ही क्यो, अनेकान्त भी दो तरह का होता है।

तो क्या जैनदर्शन मे एकान्त को भी स्थान प्राप्त है ? क्या वह अनेकान्तवादी दर्शन नही है ?

जैनदर्शन अनेकान्त मे भी अनेकान्त स्वीकार करता है। यद्यपि जैनधर्म अनेकान्तवादी दर्शन कहा जाता है, तथापि यदि उसे सर्वथा अनेकान्तवादी मानें तो यह भी तो एकान्त हो जायगा। अत· जैनदर्शन मे अनेकान्त मे भी अनेकान्त को स्वीकार किया गया है। जैनदर्शन सर्वथा न एकान्तवादी है और न सर्वथा अनेकान्तवादी। वह कथचित् एकान्तवादी और कथचित् अनेकान्तवादी है। इसी का नाम अनेकान्त मे अनेकान्त है।

कहा भी है :–

"अनेकान्तोऽप्यनेकान्त· प्रमाणनयसाधन ।
अनेकान्त· प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽपितान्नयात् ।।"[1]

---

[1] स्वयभूस्तोत्र, श्लोक १०३ (अरनाथ स्तुति, श्लोक १८)

प्रमाण और नय है साधन जिसके, ऐसा अनेकान्त भी अनेकान्त-स्वरूप है; क्योकि सर्वांशग्राही प्रमाण की अपेक्षा वस्तु अनेकान्त-स्वरूप एव अशग्राही नय की अपेक्षा वस्तु एकान्तरूप सिद्ध है।"

जैनदर्शन के अनुसार एकान्त भी दो प्रकार का होता है और अनेकान्त भी दो प्रकार का। यथा – सम्यक्-एकान्त और मिथ्या-एकान्त, सम्यक्-अनेकान्त और मिथ्या-अनेकान्त। निरपेक्ष नय मिथ्या-एकान्त है और सापेक्ष नय सम्यक्-एकान्त है तथा सापेक्ष नयो का समूह अर्थात् श्रुतप्रमाण सम्यक्-अनेकान्त है और निरपेक्ष नयो का समूह अर्थात् प्रमाणाभास मिथ्या-अनेकान्त है।

कहा भी है :–

"ज वत्थु अरणेयन्त, एयत तं पि होदि सविपेक्ख।
सुयरणारणेण रणएहि य, रिणरवेक्खं दीसदे रणेव॥[1]

जो वस्तु अनेकान्तरूप है वही सापेक्ष दृष्टि से एकान्तरूप भी है। श्रुतज्ञान की अपेक्षा अनेकान्तरूप है और नयो की अपेक्षा एकान्त-रूप है। विना अपेक्षा के वस्तु का रूप नही देखा जा सकता है।"

अनेकान्त मे अनेकान्त की सिद्धि करते हुए आचार्य अकलकदेव लिखते हैं –

"यदि अनेकान्त को अनेकान्त ही माना जाय और एकान्त का सर्वथा लोप किया जाय तो सम्यक्-एकान्त के अभाव मे, शाखादि के अभाव मे वृक्ष के अभाव की तरह, तत्समुदायरूप अनेकान्त का भी अभाव हो जायगा। अत. यदि एकान्त ही स्वीकार कर लिया जावे तो फिर अविनाभावी इतरधर्मों का लोप होने पर प्रकृत शेष का भी लोप होने से सर्वलोप का प्रसंग प्राप्त होगा।"[2]

सम्यक-एकान्त नय है और सम्यक्-अनेकान्त प्रमाण।[3]

---

[1] कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा २६१

[2] राजवार्तिक, अ० १, सूत्र ६ की टीका

[3] वही

इस दृष्टि से विचार करने पर 'क्रमबद्धपर्याय' सम्यक्-नियतिवाद अर्थात् सम्यक्-एकान्त है जो कि सम्यक्-अनेकान्त की विरोधी नही, अपितु पूरक है ।

इस बात को यदि और अधिक स्पष्ट करे तो बात कुछ इस-प्रकार होगी ।

सम्यक्-अनेकान्त अर्थात् श्रुतप्रमाण की दृष्टि से विचार करें तो कार्य की सिद्धि अनेक कारणो से अर्थात् पचसमवायो से होती है, किन्तु सम्यक्-एकान्त अर्थात् नय की अपेक्षा से जिस समवाय की अपेक्षा कथन हो उससे कार्य हुआ कहा जाता है, अन्य समवाय उसमे गौण रहते हैं – उनका अभाव अपेक्षित नही होता ।

इस दृष्टि से विचार करने पर यद्यपि प्रत्येक कार्य श्रुतप्रमाण (सम्यक्-अनेकान्त) की अपेक्षा पचसमवायो से ही होता है, तथापि नय की अपेक्षा जिस समवाय को मुख्य करके कथन किया जाता है उससे कार्य सिद्धि हुई – वह कथन सम्यक्-एकान्त होता है, मिथ्या-एकान्त नही; क्योकि उसमे अन्य समवाय गौण होते हैं, उनका अभाव नही होता ।

प्रस्तुत प्रसग मे काल की अपेक्षा कथन करने पर प्रत्येक कार्य स्वकाल (स्व-अवसर) मे ही होता है – यह कहना सम्यक्-एकान्त होगा, मिथ्या-एकान्त नही । क्योकि इस कथन मे पुरुषार्थादि अन्य समवाय गौण हुए है, उनका अभाव अभीष्ट नही है ।

इसप्रकार क्रमबद्धपर्याय को सम्यक्-एकान्त भी कहा जा सकता है जो कि सम्यक्-अनेकान्त का पूरक है, विरोधी नही ।

एक कारण यह भी है कि सम्यक्-एकान्त और मिथ्या-एकान्त का भेद न जानने वालो को क्रमबद्धपर्याय की बात एकान्त-सी लगती है ।

उक्त सन्दर्भ मे मैं एक महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर आपका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ कि क्रमबद्धपर्याय मे आपको काल सम्बन्धी एकान्त ही क्यो लगता (नजर आता) है, क्षेत्र सम्बन्धी क्यो नही,

भाव सम्बन्धी क्यो नही, निमित्त सम्बन्धी क्यो नही ? जब क्रमबद्धपर्याय के स्पष्टीकरण में स्पष्टरूप में कहा गया है कि जिस द्रव्य की, जो पर्याय, जिस क्षेत्र में, जिस काल में, जिस विधान, व जिस निमित्त से जैसी होनी होगी; उस द्रव्य की, वह पर्याय, उसी क्षेत्र में, उसी काल मे, उसी विधान से, व उसी निमित्त से वैसी ही होगी ।

उक्त व्याख्या मे काल के साथ द्रव्य, क्षेत्र, भाव, निमित्त व विधान भी निश्चित बताया गया है। फिर आपको काल की नियमितता में ही क्यो आशंका होती है, क्षेत्रादि की नियमितता में क्यो नही ?

जैसे केवलज्ञान जीव को ही होगा, अजीव को नहीं; जीव में भी भव्यजीव को ही होगा, अभव्य को नही – यह द्रव्य सम्बन्धी नियमितता है। क्या इसमें आपको एतराज है ? इसीप्रकार केवलज्ञान क्षपकश्रेणीरूप ध्यान (विधि) से ही होगा तथा ज्ञानावरणादि घातिया कर्मों के अभाव (निमित्त) पूर्वक ही होगा – यह विधान और निमित्त सबंधी नियमितता है। क्या इसमे भी आपको कोई शंका है ? यदि नही, तो फिर काल सबधी नियमितता मे ही शंका क्यो ?

क्रमबद्धपर्याय मे अकेले काल को ही नियमित स्वीकार नही किया है; वरन् द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, और निमित्त को भी नियमित स्वीकार किया है ।

जब क्रमबद्धपर्याय मे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, निमित्त – सभी की नियमितता शामिल है तब फिर जिस काल में होना होगा उसी काल मे होगा के स्थान पर यह भी कहा जा सकता है कि जिस द्रव्य का होना होगा, उसी का होगा, जिस क्षेत्र मे होना होगा, उसी मे होगा; जो होना होगा, वही होगा; जिस विधान से होना होगा, उसी से होगा, जिस निमित्तपूर्वक होना होगा, उसी निमित्त से होगा ।

फिर काल पर ही ऐतराज क्यो ? काल ही की नियमितता मे बधन की प्रतीति क्यो, अन्य मे क्यो नही ? क्या कारण है कि अज्ञानी काल ही मे शकित होता है ?

इसका कारण है अज्ञानी का उतावलापन। पर्याय की अचलता का ज्ञान न होने से अज्ञानी मे एक प्रकार का उतावलापन पाया जाता है कि इतनी प्रतीक्षा कौन करे ? कार्य जल्दी होना चाहिये। जिसका सम्यग्दर्शन-पर्याय की प्राप्ति का काल दूर होता है, उसे काल की नियमितता का विश्वास नही हो पाता।

लोक मे भी देखा जाता है कि जिसे किसी काम को होने का काल समीप दिया जाता है – बताया जाता है, वह सहज स्वीकार कर लेता है, पर जिसे लम्बा काल बताया जाता है या दिया जाता है तो उसे बदलवाने का यत्न करता है, उसे वह काल स्वीकार नही होता। उसीप्रकार जिसका आत्महित का काल दूर है, उसे काल का निश्चित होना सुहाता नही है। जिसे काल का निश्चित होना सुहाता नही है, समझना चाहिये कि उसका सत्य समझने का काल अभी दूर है। उसमे काल को बदलने की वृत्ति, उतावलापन बना ही रहता है। यह उतावलेपन की वृत्ति ही उसे यह स्वीकार नही करने देती कि जब होना होगा तभी होगा।

यदि गहराई से विचार कर तो समझ मे आ सकता है कि द्रव्य-क्षेत्रादि के समान काल भी नियमित हैं। पर गहराई से कोई विचार करे तब न ? गहराई मे तो कोई जाना नही चाहता, बस यो ही ऊपर-ऊपर चलती-फिरती दृष्टि डालता है – तो एकान्त-सा प्रतीत होता है; पुरुषार्थ का लोप हो जाएगा – ऐसा लगता है।

आज की दुनियाँ इतनी जल्दी मे है, इतना उतावली हो रही है कि उसे गहराई मे जाने को अवकाश ही नही है। इस दौड-धूप के युग मे कोई ठहरना तो दूर, चलता भी नही है, सिर्फ दौडता है। प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी दौड मे शामिल है, दौड़ की धुन मे है। वह अपनी धुन मे इतना व्यस्त है कि उसे 'क्रमबद्धपर्याय' जैसे गंभीर विषय पर शान्ति से, गभीरता से विचार करने को समय ही नही है।

यह त्रस्त जगत विषय-कषाय में इतना अभ्यस्त हो गया है, विषय-कषाय की सामग्री को जोडने के विकल्प मे ही इतना व्यस्त हो रहा है कि "मैं कौन हूं, मेरा क्या स्वरूप है, यह जगत क्या है,

इसकी परणति का कर्त्ता कौन है ?" – आदि दार्शनिक विषयो पर विचार करने की फुर्सत ही इसे कहाँ है ? इन वातो पर विचार करना तो यहाँ निठल्ले लोगो का काम मानने लगा है । यह तो वस दौडे जा रहा है विना लक्ष्य के ही ।

यदि आपको इस जगत का उतावलापन देखना है तो किसी भी नगर के व्यस्त चौराहे पर खडे हो जाइये और देखिये इस दुनियाँ का उतावलापन । चौराहे पर मौत की निशानी लालवत्ती है, एक सिपाही भी खडा है आपको रोकने के लिए, फिर भी आप नही रुक रहे हैं; अपनी मौत की कीमत पर भी नही रुक रहे है । यद्यपि आप अच्छी तरह जानते है कि लालवत्ती होने पर सडक पार करना खतरे से खाली नही, कभी भी किसी भारी वाहन के नीचे आ सकते हैं, पुलिस वाला भी आपको सचेत कर रहा है, फिर भी आप दौड़े जा रहे हैं । क्या यह उतावलेपन की हद नही है ? इतनी भी जल्दी किस काम की ? पर ऐसा उतावलापन कही भी देखा जा सकता है ।

क्या यह देश का दुर्भाग्य नही है कि आप अपने उतावलेपन के कारण लालवत्ती होने पर भी किसी वाहन के नीचे आकर मर न जावें – मात्र इसलिए लाखो पुलिसमैनो को चौराहो पर खड़ा रहना पडता है ।

अपनी मौत की भी कीमत पर जिनको इतनी भी देरी स्वीकृत नही, पसद नही, ऐसे अधीरिया – उतावले लोगो की समझ मे यह कैसे आ सकता है कि जो कार्य जव होना होगा, तभी होगा ।

यह काम तो धीरता का है, गम्भीरता का है, वीरता का भी है । जो धैर्य से गम्भीरतापूर्वक मनन करे, चिन्तन करे, उस वीर की समझ मे ही 'क्रमवद्धपर्याय' आती है । इसमे पुरुषार्थ का लोप नही होता, वरन् सच्चा पुरुषार्थ प्रगट होता है ।

उतावलेपन के अतिरिक्त पक्षव्यामोह भी एक कारण है जो काल की नियमितता की सहज स्वीकृति मे बाधक वनता है ।

पक्षव्यामोह से रहित आत्मार्थी वीर बन्धुओ से अनुरोध है कि वे एक बार इस महत्त्वपूर्ण विषय पर धीरता व गम्भीरता से विचार करें ।

'क्रमबद्धपर्याय' मे यदि कुछ लोगों को नियतवाद का एकान्त नजर आता है तो कतिपय मनीषी इसे एकान्त भाग्यवादी दृष्टिकोण मानते हैं। उनकी दृष्टि मे नियतिवाद, क्रमबद्धपर्याय और दैववाद मे कोई अन्तर नही है, क्योंकि जो होना है सो होगा – ऐसा विचारना पुरुषार्थहीन बनाता है। उनके अनुसार कार्तिकेयानुप्रेक्षा की गाथा ३२१ से ३२३ तक का कथन सार्वभौमिक सत्य नही है।

इस सन्दर्भ में हम सिद्धान्ताचार्य प० कैलाशचदजी वाराणसी के विचार जो कि उन्होने कार्तिकेयानुप्रेक्षा की उक्त गाथाओ के भावार्थ मे ही व्यक्त किये हैं, उद्धृत करना चाहते हैं :–

"सम्यग्दृष्टि यह जानता है कि प्रत्येक पर्याय का द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव नियत है। जिस समय, जिस क्षेत्र मे, जिस वस्तु की, जो पर्याय होने वाली है, वही होती है – उसे कोई नही टाल सकता। सर्वज्ञदेव सब द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अवस्थाओ को जानते हैं। किन्तु उनके जान लेने से प्रत्येक पर्याय का द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव नियत नही हुआ; वल्कि नियत होने से ही उन्होंने उसरूप मे जाना है।

जैसे – सर्वज्ञदेव ने हमे बतलाया है कि प्रत्येक द्रव्य मे प्रति समय पूर्वपर्याय नष्ट होती है और उत्तरपर्याय उत्पन्न होती है। अत पूर्वपर्याय उत्तरपर्याय का उपादान कारण है और उत्तरपर्याय पूर्वपर्याय का कार्य है। इसलिए पूर्वपर्याय से जो चाहे उत्तरपर्याय उत्पन्न नही हो सकती, किन्तु नियत उत्तरपर्याय ही उत्पन्न होती है। यदि ऐसा न माना जायगा तो मिट्टी के पिण्ड मे स्थास कोस पर्याय के विना भी घट पर्याय बन जायेगी। अत. यह मानना पड़ता है कि प्रत्येक पर्याय का द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव नियत है।

कुछ लोग इसे नियतिवाद समझकर उसके भय से प्रत्येक पर्याय का द्रव्य, क्षेत्र और भाव तो नियत मानते हैं, किन्तु काल को नियत नही मानते। उनका कहना है कि पर्याय का द्रव्य, क्षेत्र और भाव तो नियत है, किन्तु काल नियत नही है; काल को नियत मानने से पौरुष व्यर्थ हो जायेगा।

किन्तु उनका उक्त कथन सिद्धान्त विरुद्ध है; क्योंकि द्रव्य, क्षेत्र और भाव नियत होते हुए काल अनियत नही हो सकता। यदि काल को अनियत माना जायेगा तो काललब्धि कोई चीज ही नहीं रहेगी। फिर तो ससार परिभ्रमण का काल अर्द्धपुद्गलपरावर्तन से अधिक शेष रहने पर भी सम्यक्त्व प्राप्त हो जायेगा और बिना उस काल को पूरा किये ही मुक्ति हो जायगी। किन्तु यह सब बाते आगमविरुद्ध हैं। अतः काल को भी मानना ही पडता है।

रही पौरुष की व्यर्थता की आशंका, सो समय से पहले किसी काम को पूरा कर लेने से ही पौरुष की सार्थकता नही होती। किन्तु समय पर काम का हो जाना ही पौरुष की सार्थकता का सूचक है। उदाहरण के लिए किसान योग्य समय पर गेहूँ बोता है और खूब श्रमपूर्वक खेती करता है, तभी समय पर पक कर गेहूँ तैयार होता है। तो क्या किसान का पौरुष व्यर्थ कहलायेगा? यदि वह पौरुष न करता तो समय पर उसकी खेती पककर तैयार न होती, अतः काल की नियतता में पौरुष के व्यर्थ होने की आशंका निर्मूल है।

अतः जिस समय, जिस द्रव्य की, जो पर्याय होनी है, वह अवश्य होगी। ऐसा जानकर सम्यग्दृष्टि सम्पत्ति में हर्ष और विपत्ति में विषाद नही करता, और न सम्पत्ति की प्राप्ति तथा विपत्ति को दूर करने के लिए देवी-देवताओ के आगे गिडगिडाता फिरता है।"[1]

उक्त कथन में कार्तिकेयानुप्रेक्षा की उक्त गाथाओ की सार्वभौमिकता पर ही बल दिया गया है और पौरुष की सार्थकता भी सिद्ध की गई है।

सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव की परमुखापेक्षिता एवं दीनता इसी सार्वभौमिक सत्य के आधार पर समाप्त होती है कि एक द्रव्य दूसरे का भला-बुरा नही कर सकता तथा जिस द्रव्य की, जो पर्याय, जिस काल मे, जिस विधान से, जिस निमित्तपूर्वक जैसी होनी है; उस द्रव्य की, वह पर्याय, उसी काल मे, उसी विधान से, उसी निमित्तपूर्वक, वैसी ही होगी; उसे इन्द्र तो क्या जिनेन्द्र भी नही पलट सकते हैं; तो फिर व्यंतरादि साधारण देवी-देवता की तो क्या बिसात है?

---

[1] कार्तिकेयानुप्रेक्षा राजचन्द्र जैनशास्त्रमाला, पृष्ठ २२८

जरा विचार तो कीजिए कि "कार्तिकेयानुप्रेक्षा का उक्त कथन गृहीतमिथ्यात्व के निषेध के लिए किया गया है, उसे सार्वभौम नही मान लेना चाहिए" – इसका क्या अर्थ हो सकता है ?

क्या यह बात सत्य नही है, मात्र गृहीतमिथ्यात्व को छुडाने के लिए यो ही कह दी गई है ? क्या असत्य के आश्रय से गृहीतमिथ्यात्व छूट सकता है ? क्या समय से पूर्व कोई कार्य सम्पन्न किया जा सकता है ? क्या समय के पूर्व कार्य-सम्पन्नता मे ही पुरुषार्थ है ? शेष कार्य क्या बिना पुरुषार्थ के ही सम्पन्न हो जाते हैं ? – ये कुछ प्रश्न हैं जो कि उक्त सत्य को सार्वभौमिक एव सार्वकालिक न मानने पर उत्पन्न होते हैं। फिर सर्वज्ञता का प्रश्न भी खडा हुआ ही है।

अब रहा एक पुरुषार्थहीनता का प्रश्न ? उसके सन्दर्भ में हमारा कहना यह है कि क्रमबद्धपर्याय की बात सर्वत्र पुरुषार्थ को आगे रखकर ही कही गई है, उसकी उपेक्षा करके नही।

होनहार की चर्चा करते हुए भैया भगवतीदासजी भी पुरुषार्थ की प्रेरणा देना नही भूले। उनकी दृष्टि मे सच्ची होनहार अर्थात् क्रमबद्धपर्याय पुरुषार्थनाशक नही, अपितु पुरुषार्थप्रेरक है।

जिस पद मे वे यह लिखते हैं

"जो जो देखी वीतराग ने, सो सो होसी वीरा रे।
अनहोनी होसी नहिं क्यो ही, काहे होत अधीरा रे।।"

उसी पद मे आगे चलकर पुरुषार्थ की प्रेरणा देते हुए लिखते हैं :–

तू सम्हारि पौरुष बल अपनो, सुख अनत तो तीरा रे।"

यद्यपि कार्य की उत्पत्ति मे अनेक कारण माने गये हैं, जिन्हे पंचसमवाय के नाम से भी अभिहित किया जाता है; तथापि उन सब मे पुरुषार्थ को विशिष्ट स्थान प्राप्त है, क्योकि प्रयत्न उसी के सन्दर्भ मे सभव है – भवितव्य (होनहार), काललब्धि आदि में सभव नही है। क्रमबद्धपर्याय अर्थात् सम्यक्-नियति मानने मे जगत को पुरुषार्थ की अप्रासगिकता दिखाई देती हैं, जबकि सम्यक्-नियति मे अन्य कारणो की उपेक्षा न होने से इसप्रकार की कोई बात नही है। इसी बात को उपर्युक्त कथन मे स्पष्ट किया गया है।

आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी ने मुक्तिमार्ग के सन्दर्भ मे इस विषय को उठाकर बहुत अच्छी मीमांसा प्रस्तुत की है। उसका कुछ अंश दृष्टव्य है, जो कि इसप्रकार है :–

"यहाँ प्रश्न है कि मोक्ष का उपाय काललब्धि आने पर भवितव्यानुसार बनता है, या मोह आदि के उपशमादि होने पर बनता है, या अपने पुरुषार्थ से उद्यम करने पर बनता है सो कहो। यदि प्रथम दोनो कारण मिलने पर बनता है तो हमें उपदेश किसलिए देते हो ? और पुरुषार्थ से बनता है तो उपदेश सब सुनते हैं, उनमे कोई उपाय कर सकता है, कोई नही कर सकता; सो कारण क्या ?"

समाधान :– एक कार्य होने में अनेक कारण मिलते हैं। सो मोक्ष का उपाय बनता है वहाँ तो पूर्वोक्त तीनो ही कारण मिलते हैं, और नही बनता वहाँ तीनो ही कारण नही मिलते।

पूर्वोक्त तीन कारण कहे उनमे काललब्धि व होनहार तो कोई वस्तु नहीं है; जिस काल में कार्य बनता है वही काललब्धि, और जो कार्य हुआ वही होनहार। तथा जो कर्म के उपशमादिक हैं वह पुद्गल की शक्ति है, उसका आत्मा कर्त्ता-हर्त्ता नही है। तथा पुरुषार्थ से उद्यम करते हैं सो यह आत्मा का कार्य है; इसलिए आत्मा को पुरुषार्थ से उद्यम करने का उपदेश देते हैं।

वहाँ यह आत्मा जिस कारण से कार्यसिद्धि अवश्य हो उस कारणरूप उद्यम करे, वहाँ तो अन्य कारण मिलते ही मिलते हैं, और कार्य की भी सिद्धि होती ही होती है। तथा जिस कारण से कार्य की सिद्धि हो अथवा नही भी हो, उस कारणरूप उद्यम करे, वहाँ अन्य कारण मिलें तो कार्यसिद्धि होती है, न मिले तो सिद्धि नही होती।

सो जिनमत में जो मोक्ष का उपाय कहा है, इससे मोक्ष होता ही होता है। इसलिए जो जीव पुरुषार्थ से जिनेश्वर के उपदेशानुसार मोक्ष का उपाय करता है उसके काललब्धि व होनहार भी हुए और कर्म के उपशमादि हुए हैं तो वह ऐसा उपाय करता है। इसलिये जो पुरुषार्थ से मोक्ष का उपाय करता है उसको सर्व कारण मिलते हैं

और उसको अवश्य मोक्ष की प्राप्ति होती है – ऐसा निश्चय करना। तथा जो जीव पुरुषार्थ से मोक्ष का उपाय नही करता उसके काललब्धि व होनहार भी नही और कर्म के उपशमादि नही हुए हैं, तो यह उपाय नही करता। इसलिये जो पुरुषार्थ से मोक्ष का उपाय नही करता उसको कोई कारण नही मिलते और उसको मोक्ष की प्राप्ति नही होती – ऐसा निश्चय करना।"[1]

उक्त कथन मे पडित टोडरमलजी ने कार्य की निष्पन्नता मे पुरुषार्थ को प्रधान रखकर काललब्धि आदि अन्य कारणो की भी अनिवार्य उपस्थिति बताई है।

वस्तुत· पाँचो समवायो का समवाय ही कार्य का उत्पादक है। यह कहना कोरी कल्पना ही है कि पाँचो समवायो मे से यदि एक भी नही मिला तो कार्य नही होगा, क्योकि ऐसा सभव ही नही है कि कार्य होना हो और कोई समवाय न मिले, जब कार्य होना होता है तो सभी समवाय होते ही होते है। पुरुषार्थ को मुख्य करके यह बात प० टोडरमलजी ने बहुत ही स्पष्ट लिखी है।

पुरुषार्थ भी अन्य समवायो के अनुसार ही होता है। पच समवायों मे कोई परस्पर सघर्ष नही है, अपितु अद्भुत सुमेल है। अत यह कहना कि यदि होनहार न हुई या काललब्धि न पकी तो पुरुषार्थ से क्या होता है ? या निमित्त नही मिला तो होनहार क्या करेगी या पुरुषार्थ क्या काम आयगा ? आदि – मानसिक व्यायाम के अतिरिक्त कुछ मायने नही रखता।

वैसे तो पुरुषार्थ के विना कोई भी कार्य सम्पन्न नही होता। सर्वत्र ही अन्य समवाय सापेक्ष पुरुषार्थ का साम्राज्य है। मुक्तिमार्ग-रूपी कार्य की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और पूर्णता मे भी काललब्धि आदि अन्य समवायो के साथ-साथ पुरुषार्थ का महत्त्वपूर्ण स्थान है, फिर भी मुक्ति के मार्ग के सन्दर्भ मे पुरुषार्थ की व्याख्या, जगत जिसे पुरुषार्थ समझता है, उससे कुछ भिन्न ही है।

[1] मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३०६

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय की भाषाटीका मे छन्द ६ के भावार्थ में पंडित टोडरमलजी ने पुरुष की व्याख्या इसप्रकार की है :–

"पुरु=उत्तम चेतना गुण मे, सेते=स्वामी होकर प्रवर्त्तन करे – उसको पुरुष कहते हैं। ज्ञानदर्शन चेतना के नाथ को पुरुष कहते हैं।"

अर्थ अर्थात् प्रयोजन – इसप्रकार उत्तम चेतना गुण का स्वामी होकर उसमे ही प्रवर्त्तन करना है प्रयोजन जिसका, उसे पुरुषार्थ कहते हैं। दूसरे शब्दो मे मुक्ति के मार्ग में आत्मानुभवन की प्राप्ति का प्रयास ही पुरुषार्थ है।

क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा की स्थिति मे तो उक्त पुरुषार्थ विशेषकर जागृत होता है, क्योकि अनादिकाल से जगत के परिणमन को अपनी इच्छानुकूल करने की आकुलता से व्याकुल प्राणी जब यह अनुभव करता है कि जगत के परिणमन में मैं कुछ भी फेर-फार नही कर सकता तो उसका उपयोग सहज ही जगत से हटकर आत्म-सन्मुख होता है। और जब यह श्रद्धा बनती है कि मैं अपनी क्रमनियमित पर्यायों में भी कोई फेर-फार नही कर सकता तो पर्याय पर से भी दृष्टि हट जाती है और स्व-स्वभाव की ओर ढलती है।

दृष्टि का स्वभाव की ओर ढलना ही मुक्ति के मार्ग मे अनन्त पुरुषार्थ है। क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा करने वाले को उक्त श्रद्धा के काल मे आत्मोन्मुखी अनत पुरुषार्थ होने का और सम्यग्दर्शन प्रगट होने का क्रम भी सहज होता है।

कर्त्तृत्व के अहकार से ग्रस्त इस जगत को पर मे या पर्याय मे कुछ फेर-फार करने मे ही पुरुषार्थ दिखाई देता है, किन्तु पर और पर्याय सम्बन्धी विकल्पो से विराम लेकर स्व मे स्थिर हो जाने मे पुरुषार्थ नही दिखता। सर्वज्ञ भगवान पर मे व अपनी पर्याय मे भी कुछ भी फेर-फार नही करते, तो क्या वे पुरुषार्थहीन हो गये? क्या उनके मोक्ष पुरुषार्थ नहीं है?

उनके वीर्यगुण का पूर्ण विकास हो चुका है, फिर भी क्या वे अनन्त वीर्य के धनी अर्थात् पूर्ण पुरुषार्थी नही हैं? पर में व पर्याय

में कुछ भी फेर-फार किये बिना ही जब वे अनन्त पुरुषार्थी हो सकते हैं तो फिर हम क्यो नही ? ये कुछ प्रश्न हैं उनके सामने, जिन्हें 'क्रमबद्धपर्याय' मानने मे पुरुषार्थ उड़ता नजर आता है।

उक्त सदर्भ मे स्वामीजी के विचार भी दृष्टव्य हैं :—

"प्रश्न :— जबकि सभी क्रमबद्ध है और उसमे जीव कोई भी परिवर्तन नही कर सकता तो फिर जीव मे पुरुषार्थ कहाँ रहा ?

उत्तर :— सब कुछ क्रमबद्ध है — इस निर्णय मे ही जीव का अनन्त पुरुषार्थ समाविष्ट है, किन्तु उसमे कोई परिवर्तन करना आत्मा के पुरुषार्थ का कार्य नही है। भगवान जगत का सब-कुछ मात्र जानते ही हैं, किन्तु वे भी कोई परिवर्तन नही कर सकते, तब क्या इससे भगवान का पुरुषार्थ परिमित हो गया ?

नही, नही; भगवान का अनन्त अपरिमित पुरुषार्थ अपने ज्ञान में समाविष्ट है। भगवान का पुरुषार्थ निज मे है, पर मे नही। पुरुषार्थ जीवद्रव्य की पर्याय है, इसलिये उसका कार्य जीव की पर्याय मे होता है; किन्तु जीव के पुरुषार्थ का कार्य पर मे नही होता।

जो यह मानता है कि सम्यग्दर्शन और केवलज्ञानदशा आत्मा के पुरुषार्थ के बिना होती है, वह मिथ्यादृष्टि है। ज्ञानी प्रतिक्षण स्वभाव की पूर्णता के पुरुषार्थ की भावना करता है।

अहो ! जिनका पूर्ण ज्ञायकस्वभाव प्रगट हो गया है, वे केवलज्ञानी हैं, उनके ज्ञान मे सब-कुछ एक ही साथ ज्ञात होता है; ऐसी प्रतीति करने पर स्वय भी निज दृष्टि से देखने वाला ही रहा; ज्ञान के अतिरिक्त पर का कर्तृत्व अथवा रागादिक सब-कुछ अभिप्राय मे से दूर हो गया। ऐसी द्रव्यदृष्टि के बल से, ज्ञान की पूर्णता की भावना से, वस्तुस्वरूप का चिंतवन करता है।

यह भावना ज्ञानी की है, अज्ञानी मिथ्यादृष्टि की नही है; क्योकि मिथ्यादृष्टि जीव पर का कर्तृत्व मानता है और कर्तृत्व की मान्यता वाला जीव ज्ञातृत्व की यथार्थ भावना नही कर सकता, क्योकि कर्तृत्व और ज्ञातृत्व का परस्पर विरोध है।

सर्वज्ञ भगवान ने अपने केवलज्ञान में जैसा देखा है, वही होता है। यदि हम उसमे कोई परिवर्तन नही कर सकते तो फिर उसमे पुरुषार्थ नही रहता – इसप्रकार जो मानते हैं वे अज्ञानी हैं।

हे भाई ! तू किसके ज्ञान से बात करता है ? अपने ज्ञान से या दूसरे के ज्ञान से ? यदि तू अपने ज्ञान से ही बात करता है तो फिर जिस ज्ञान ने सर्वज्ञ का और सभी द्रव्यो की अवस्था का निर्णय कर लिया उस ज्ञान मे स्वद्रव्य का निर्णय न हो – यह हो ही कैसे सकता है ? स्वद्रव्य का निर्णय करने वाले ज्ञान मे अनन्त पुरुषार्थ है।

तूने अपने तर्क में कहा है कि 'सर्वज्ञ भगवान ने अपने केवलज्ञान मे जैसा देखा हो वैसा होता है', तो वह मात्र बात करने के लिए कहा है – अथवा तुझे सर्वज्ञ के केवलज्ञान का निर्णय है ?

पहले तो यदि तुझे केवलज्ञान का निर्णय न हो तो सर्वप्रथम वह निर्णय कर और यदि तू सर्वज्ञ के निर्णयपूर्वक कहता हो तो सर्वज्ञ भगवान के केवलज्ञान के निर्णय वाले ज्ञान में अनन्त पुरुषार्थ आ ही जाता है। सर्वज्ञ का निर्णय करने में ज्ञान का अनन्तवीर्य कार्य करता है, तथापि उससे इन्कार करके तू कहता है कि क्रमबद्धपर्याय मे पुरुषार्थ कहाँ रहा ?

सच तो यह है कि तुझे पूर्ण केवलज्ञान के स्वरूप की ही श्रद्धा नही है, और केवलज्ञान को स्वीकार करने का अनन्त पुरुषार्थ तुझ मे प्रगट नही हुआ। केवलज्ञान को स्वीकार करने मे अनन्त पुरुषार्थ का अस्तित्व आ जाता है, तथापि यदि उसे स्वीकार नही करता तो कहना होगा कि तू मात्र बाते ही करता है, किन्तु तुझे सर्वज्ञ का निर्णय नही हुआ। यदि सर्वज्ञ का निर्णय हो तो पुरुषार्थ की और भव की शका न रहे, यथार्थ निर्णय हो जाय और पुरुषार्थ न आये यह हो ही नही सकता।"[1]

गहराई से विचार करें तो क्रमबद्धपर्याय के निर्णय मे ही अनन्त पुरुषार्थ आ जाता है। क्रमबद्धपर्याय का निर्णय स्वयं अनन्त पुरुषार्थ

---

[1] ज्ञानस्वभाव-ज्ञेयस्वभाव, पृष्ठ २४६

का कार्य है, क्योंकि क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में सर्वज्ञता का निर्णय समाहित है। जिसप्रकार सर्वज्ञता की प्रतीति-आस्था के बिना क्रमबद्धपर्याय का निर्णय सभव नही है; उसीप्रकार क्रमबद्धपर्याय के सम्यक्निर्णय बिना सर्वज्ञता की भी सच्ची प्रतीति सभव नही है।

अब रही परकर्त्तृत्व के अहकार की बात जिसे यह अज्ञानी जगत पुरुषार्थ माने बैठा है, सो वह पुरुषार्थ तो टूटना ही चाहिए क्योंकि वह सच्चा पुरुषार्थ ही नही है, वह तो नपुसकता है। यदि क्रमबद्ध-पर्याय की श्रद्धा से परकर्त्तृत्व का अहकार भी न टूटा तो समझना चाहिए कि 'क्रमबद्धपर्याय' उसकी समझ मे आई ही नही है। क्रमबद्धपर्याय की सच्ची श्रद्धा का फल तो कर्त्तृत्व का अहकार टूट कर अन्तरोन्मुखी सम्यक्पुरुषार्थ का जागृत होना ही है।

जिन लोगो को क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा मे पुरुषार्थ उडता नजर आता है, वस्तुत पुरुषार्थ का सही स्वरूप ही उनकी समझ मे नही आया है। वे परकर्त्तृत्व और पर्याय के हेर-फेर को ही पुरुषार्थ माने बैठे है। उन्हे सर्वप्रथम पुरुषार्थ के सम्यक्स्वरूप का गभीरता से विचार करना चाहिए।

हमारा विश्वास है कि उनकी दृष्टि मे पुरुषार्थ का सही स्वरूप स्पष्ट होते ही उनकी शका-आशका स्वतः समाप्त हो जावेगी, इसके बिना उक्त शका का निवारण सभव नही है। अत. उनसे पुरुषार्थ के सही स्वरूप का गभीरता से विचार करने का विनम्र अनुरोध है।

सर्वज्ञ को धर्म का मूल कहा गया है।[1] जो व्यक्ति सर्वज्ञ भगवान को द्रव्यरूप से, गुणरूप से और पर्यायरूप से जानता है, वह अपने आत्मा को भी जानता है।

आचार्य कुन्दकुन्द अत्यन्त स्पष्ट शब्दो मे लिखते हैं :—

"जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं ॥[2]

[1] कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ३०२ का भावार्थ एव उत्थानिका

[2] प्रवचनसार, गाथा ८०

जो जीव अरहंत अर्थात् सर्वज्ञ भगवान को द्रव्यरूप से, गुणरूप से और पर्यायरूप से जानता है, वह अपने आत्मा को भी जानता है और उसका मोह अवश्य नाश को प्राप्त होता है।"

इस गाथा मे मोह को जीतने का उपाय बताया गया है। इसमे विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि मूलरूप से तो यह कहा गया है कि – जो आत्मा को जानता है, उसका मोह (मिथ्यात्व) नष्ट होता है; पर साथ ही यह भी कहा गया है कि जो अरहंत भगवान को द्रव्य रूप से, गुणरूप से और पर्यायरूप से जानता है, वह अपने आत्मा को जानता है – इसप्रकार मिथ्यात्व के नाश के लिए अरहंत भगवान को जानना भी अनिवार्य कर दिया गया है। मात्र अरहंत को नही, अपितु उन्हे द्रव्यरूप से, गुणरूप से और पर्यायरूप से जानना अनिवार्य कहा है।

अपने आत्मा और अरहंत भगवान के द्रव्य-गुण तो एक समान ही शुद्ध है, पर वर्तमान पर्याय मे अन्तर है। अपनी पर्याय अल्प विकसित और अशुद्ध है, उनकी पर्याय पूर्ण विकसित और शुद्ध है। इससे स्पष्ट है कि आचार्यदेव ने पूर्णता और शुद्धता जानने को कहा है। इस तरह उन्होने पूर्ण वीतरागता और सर्वज्ञता के ज्ञान को मोह (मिथ्यात्व) नाश के लिए अनिवार्य माना है। यही कारण है कि आत्मानुभूति के साथ-साथ सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की सम्यक् पहिचान भी सम्यक्त्व प्राप्ति के लिए अनिवार्य है।

जब सर्वज्ञता हमारा लक्ष्य है, प्राप्तव्य है, आदर्श है, उसे प्राप्त करने के लिए ही सारा यत्न है; तो फिर उसके सच्चे स्वरूप के परिज्ञान बिना उसे प्राप्त करने का मार्ग कैसे आरभ हो सकता है?

जैनदर्शन की मूलाधार सर्वज्ञता ही आज सकट मे पड़ गई है। हमारे कुछ धुरधर धर्मबन्धु पक्षव्यामोह मे इतने उलझ गये है कि सर्वज्ञता मे भी मीन-मेख निकालने लगे हैं। आचार्य समन्तभद्र को 'कलिकालसर्वज्ञ' इसलिए ही कहा गया था कि उन्होने कलिकाल मे डके की चोट पर सर्वज्ञता सिद्ध की थी। वे कोई स्वयं सर्वज्ञ नही थे, पर उन्होने कलिकाल के जोर से संकटापन्न सर्वज्ञता को पुनर्स्थापित

किया था, इसलिए वे 'कलिकालसर्वज्ञ' कहलाए। आज फिर कलिकाल जोर मार रहा है, आज युग को फिर एक समन्तभद्र चाहिए जो डंके की चोट पर सर्वज्ञता को सिद्ध कर सके, पुनः स्थापित कर सके।

मोह का नाश कर आत्मश्रद्धान-ज्ञान और आत्मलीनता के इच्छुकजनों को अनन्त पुरुषार्थपूर्वक मर-पच के भी सर्वज्ञता का निर्णय अवश्य करना चाहिए। सर्वज्ञता के निर्णय मे क्रमबद्धपर्याय का निर्णय समाहित है। सर्वज्ञता और क्रमबद्धपर्याय का निर्णय ज्ञायकस्वभाव के सन्मुख होकर ही होता है। ज्ञायकस्वभाव की सन्मुखता ही मुक्ति महल की प्रथम सीढी है; उस पर आरोहण का अनन्त पुरुषार्थ क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा मे समाहित है।

इसप्रकार 'सर्वज्ञता' और 'क्रमबद्धपर्याय' एक प्रकार से परस्परानुबद्ध हैं। एक का निर्णय (सच्ची समझ) दूसरे के निर्णय के साथ जुडा हुआ है। दोनो का ही निर्णय सर्वज्ञस्वभावी निज आत्मा के सन्मुख होकर होता है। यदि कोई व्यक्ति परोन्मुखी वृत्ति द्वारा 'सर्वज्ञता' या 'क्रमबद्धपर्याय' का निर्णय करने का यत्न करे तो वह कभी सफल नही होगा।

सर्वज्ञता प्राप्त करने का प्रारम्भिक उपाय सर्वज्ञता का स्वरूप समझना है। जिसप्रकार जब तीर्थंकर किसी माँ के गर्भ मे आते हैं, तो उसके पूर्व स्वप्नों मे आते हैं, उसीप्रकार जिस आत्मा मे सर्वज्ञता प्रगट होती है, प्रगट होने के पूर्व उसे वह समझ मे आती है। सर्वज्ञता समझ मे आये बिना प्राप्त नही की जा सकती है।

अभी तो सर्वज्ञता समझ मे ही नही आ रही है, प्रगट होने की बात ही कहाँ है ? सर्वज्ञता की समझ बिना, स्वीकृति बिना, धर्म की उत्पत्ति ही सभव नही है, तो फिर उसकी स्थिति, वृद्धि और पूर्णता का तो प्रश्न ही कहाँ उठता है ?

सर्वज्ञता की श्रद्धा बिना देव-शास्त्र-गुरु की सच्ची श्रद्धा भी सभव नहीं है, क्योंकि सच्चे देव का तो स्वरूप ही सर्वज्ञता और वीतरागता है। शास्त्र का मूल भी सर्वज्ञ की वाणी है। गुरु भी तो

सर्वज्ञकथित मार्गानुगामी होते हैं। साधुओं को आगमचक्षु कहा है।[1] सर्वज्ञकथित मार्ग का निरूपण शास्त्रों में है। शास्त्रों की प्रामाणिकता के अभाव मे गुरु का स्वरूप भी स्पष्ट कैसे होगा? अतः देव-शास्त्र-गुरु का सच्चा स्वरूप समझने के लिए सर्वज्ञता का स्वरूप समझना अति आवश्यक है।

इसीलिए तो तार्किकचक्रचूड़ामणि आचार्य समन्तभद्र ने देव-शास्त्र-गुरु की सम्यक्श्रद्धा को सम्यग्दर्शन के स्वरूप में शामिल किया है।

वे लिखते हैं :-

"श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्।
त्रिमूढापोढमष्टाङ्गं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ॥४॥[2]

तीन मूढता और आठ मद रहित तथा आठ अंगो सहित सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है।"

कुछ लोगों का कहना है कि आप 'क्रमबद्धपर्याय' को सर्वज्ञ के साथ क्यों लपेटते हैं? उसे सीधी वस्तु से सिद्ध कीजिए न?

भाई! हम लपेटते नही, वह लिपटी हुई ही है; क्योंकि 'सर्वज्ञता' की श्रद्धा बिना 'क्रमबद्धपर्याय' की श्रद्धा एवं 'क्रमबद्धपर्याय' की श्रद्धा बिना 'सर्वज्ञता' की श्रद्धा संभव नही है।

यद्यपि 'सर्वज्ञता' का सहारा लिये बिना भी 'क्रमबद्धपर्याय' की सिद्धि की जा सकती है, वस्तुस्वरूप के आधार पर हम विस्तार से 'क्रमबद्ध' सिद्ध कर भी आये हैं; तथापि सर्वज्ञता से उसे अलग करने का आग्रह भी क्यो?

सर्वज्ञता के आधार पर क्रमबद्धपर्याय सिद्ध करने का एक कारण तो यह है कि सर्वज्ञता जैनदर्शन मे सर्वमान्य है, उसमें किसी को भी विवाद नही है। अत. क्रमबद्धपर्याय को सिद्ध करने का यह एक ठोस

---

[1] आगमचक्खू साहू

[2] रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक ४

आधार है। तथा जिन लोगो को सर्वज्ञता की बाहर से ही सही, थोडी-बहुत श्रद्धा है; उन्हे सर्वज्ञता के आधार पर 'क्रमबद्ध' समझने मे बहुत सुविधा रहती है।

दूसरी बात यह भी है कि क्रमबद्धपर्याय का विषय अतिसूक्ष्म है; उसे सर्वज्ञता के आधार बिना साधारण बुद्धिवालो के गले उतारना असंभव नही तो कठिन अवश्य है।

मैं आपसे ही कहता हूँ कि सर्वज्ञता एवं सर्वज्ञकथित आगम के आधार बिना आप एकलाख योजन का ऊँचा सुमेरु पर्वत ही समझा दीजिए। आखिर आपको यही तो कहना होगा कि शास्त्रो में लिखा है और शास्त्र सर्वज्ञकथित हैं। जब आप इतना स्थूल एकलाख योजन का सुमेरु पर्वत भी सर्वज्ञता और सर्वज्ञकथित आगम के बिना सिद्ध नही कर सकते तो फिर क्रमबद्धपर्याय जैसे सूक्ष्म विषय के समझाने मे हमसे सर्वज्ञ और सर्वज्ञकथित आगम का सहारा छोडने को क्यो कहते हैं?

क्या आपका विश्वास सर्वज्ञता और सर्वज्ञकथित आगम मे नही है? यदि है, तो फिर ऐसी बात क्यो? सर्वज्ञता का आधार छुडाने की हठ क्यो? लगता तो यह है कि आपको स्वयं सर्वज्ञता पर पूरा भरोसा नही या सर्वज्ञता का स्वरूप आपकी दृष्टि मे पूरी तरह स्पष्ट नही है और सर्वज्ञ की सत्ता से इन्कार करने की हिम्मत भी नही है। अत किसी न किसी बहाने इस समर्थ हेतु से अपनी जान छुडाना चाहते हैं।

यदि सर्वज्ञता का स्वरूप आपकी दृष्टि मे स्पष्ट होता और उस पर आपको विश्वास भी होता तो क्रमबद्धपर्याय भी सहज स्वीकृत हो जाती। फिर यह कहने की आवश्यकता नही रहती कि आप क्रमबद्धपर्याय की सिद्धि के लिए सर्वज्ञता का सहारा क्यो लेते हो?

अच्छा एक मिनिट 'क्रमबद्धपर्याय' की बात छोड भी दीजिए, फिर भी 'सर्वज्ञता' का निर्णय तो करना ही पडेगा। उसके बिना तो देव-शास्त्र-गुरु का स्वरूप ही स्पष्ट नही होगा।

देव-शास्त्र-गुरु की रक्षा का नारा लगाने वालो ने कभी देव-शास्त्र-गुरु के सच्चे स्वरूप पर भी गौर करने का कष्ट उठाया है ? क्या सर्वज्ञता को समझे बिना देव-शास्त्र-गुरु का स्वरूप समझा या समझाया जा सकता है ?

आगम के संरक्षको को क्या यह भी बताना पड़ेगा कि आगम की सबसे पहली शर्त है – उसका सर्वज्ञकथित (आप्तोपज्ञ)[1] होना। तथा सर्वज्ञकथित आगम निश्चित-भविष्य की असंख्य घोषणाओं से भरा पडा है।

क्या करणानुयोग का एक भी विषय बिना सर्वज्ञकथित आगम के आधार के सिद्ध किया जा सकता है, समझाया जा सकता है ? क्या आप आठ कर्मों की सत्ता, उनका बंध, उदय, संक्रमण, उत्कर्षण, अपकर्षण, उद्वेलन आदि बिना सर्वज्ञकथित आगम के आधार के सिद्ध कर सकेंगे ? इसीप्रकार अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण के परिणामों की सिद्धि का आधार क्या बनाओगे ?

इन सम्पूर्ण विषयो व इसीप्रकार के अन्य विषयो के पठन-पाठन के समय आपको यह प्रश्न क्यो उपस्थित नहीं हुआ कि सर्वज्ञकथित आगम के आधार बिना इन्हे सिद्ध किया जावे, आज ही यह नया प्रश्न क्यो ?

भाई ! जैसा कि कहा गया है कि सर्वज्ञ धर्म का मूल है, तदनुसार धर्मरक्षको को सर्वज्ञ का निर्णय तो करना ही होगा। आखिर एक जैनदर्शन ही तो ऐसा दर्शन है जो प्रत्येक आत्मा के परमात्मा बनने की बात करता है; बात ही नही करता, परमात्मा बनने का मार्ग बताता है, उस पर चलने की प्रेरणा देता है, और छाती ठोककर विश्वास दिलाता है कि इस मार्ग पर चलने वाले अवश्य परमात्मा बनते हैं।

क्या परमात्मा बनने के पूर्व परमात्मा का स्वरूप समझना भी जरूरी नही है ? यदि है, तो फिर सर्वज्ञता की चर्चा से विराम का आग्रह

---

[1] आचार्य समन्तभद्र : रत्नकरण्डश्रावकाचार, श्लोक ६

क्यो ? क्रमबद्धपर्याय का ही क्या, आचार्यों ने तो समस्त जिन-सिद्धान्तो का प्रतिपादन सर्वज्ञता के आधार पर ही किया है। हम किस-किस सिद्धान्त के प्रतिपादन मे सर्वज्ञ और सर्वज्ञकथित आगम को तिलाञ्जलि देगे ?

परमात्मा बनने के लिए क्या अपनी आत्मा को जानना – अनुभव करना आवश्यक नही है ? आचार्य कुन्दकुन्द के उक्त कथन मे तो स्पष्ट ही लिखा है कि जो अरहत को द्रव्यरूप से, गुणरूप से और पर्यायरूप से जानता है, वह अपने आत्मा को जानता है और जो आत्मा को जानता है वह मोह का नाश करता है।

उक्त कथन मे स्पष्ट निर्देश है कि मोह का नाश करने के लिए अपनी आत्मा को जानना जरूरी है और अपनी आत्मा को जानने के पूर्व अरहत (सर्वज्ञ) को जानना जरूरी है।

क्या देव-शास्त्र-गुरु की रक्षा उनके स्वरूप को जाने विना ही हो जावेगी ? वे तो अपने स्वरूप मे सदा सुरक्षित ही है, उन्हे हमारी सुरक्षा की आवश्यकता नही है। यदि हमे अपनी सुरक्षा करनी हो तो उनके सही स्वरूप को समझें। इसमे ही हमारी और हमारे धर्म की सुरक्षा है। धर्म-रक्षा की बात करने वालो को थोडा-बहुत ध्यान इस ओर भी देना चाहिए।

आगे चलकर उसी प्रवचनसार की ८२वी गाथा मे कुन्दकुन्दाचार्य घोषणा करते हैं –

"सव्वे वि य अरहता तेण विधाणेण खविदकम्मसा।
किच्चा तधोवदेस णिव्वादा ते णमो तेसिं॥

सभी अरहत भगवानो ने उसी विधि से कर्मों का क्षय करके मोक्ष प्राप्त किया है और अन्य आत्माओ को परमात्मा बनने का उपदेश भी वही दिया है अर्थात् वही मार्ग बताया है। – ऐसे अरहतो को नमस्कार हो।"

उसी विधि से अर्थात् ८०-८१वी गाथा मे बताई गई विधि से उन्होने स्वय मोक्ष प्राप्त किया तथा उपदेश भी वही दिया।

८०-८१वीं गाथा मे बताया गया है कि जो अरहंत भगवान को द्रव्यरूप से, गुणरूप से और पर्यायरूप से जानता है, वह अपने आत्मा को जानता है और उसका मोह नष्ट होता है; तत्पश्चात् राग-द्वेष को छोड़कर शुद्ध आत्मा को प्राप्त करता है अर्थात् पूर्ण वीतरागता और सर्वज्ञता प्राप्त करता है ।

यही विधि सर्वज्ञता प्राप्त करने की है, जिससे सभी अरहंतो ने सर्वज्ञता प्राप्त की है और प्राप्त करने का उपदेश दिया है । प्रवचनसार गाथा ८२ की टीका ही में आचार्य अमृतचन्द्र ने तो यहाँ तक कहा है कि सर्वज्ञता प्राप्त करने का प्रकारान्तर असंभव है ।

अन्त में आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं :-

"अधिक प्रलाप से बस होओ, मेरी मति व्यवस्थित हो गई है ।"[1]

तथा ८२वीं गाथा की ही उत्थानिका में वे कहते हैं :-

"भगवन्तों द्वारा अनुभूत एवं बताया गया यही एक मोक्ष का पारमार्थिक मार्ग है, इसप्रकार बुद्धि को व्यवस्थित करते हैं ।"[2]

अरे भाई ! जिसकी बुद्धि अव्यवस्थित है उसे जगत अव्यवस्थित दिखाई देता है । जैसे चलती रेल में बैठे व्यक्ति को जमीन चलती नजर आती है, पर जब विवेक से विचार करता है तो प्रतीत होता है कि जमीन तो अपनी जगह पर स्थिर है, चल तो मैं ही रहा हूँ । उसीप्रकार अव्यवस्थित मतिवाले को जगत अव्यवस्थित नजर आता है, यदि गम्भीरता से विचार करे तो पता चल सकता है कि जगत को व्यवस्थित नही करना है, वह तो व्यवस्थित ही है; मुझे अपनी मति व्यवस्थित करनी है ।

---

[1] अलमथवा प्रलपितेन । व्यवस्थिता मतिर्मम ।
— प्रवचनसार गाथा ८२ की टीका

[2] अथायमेवैको भगवद्भिः स्वयमनुभूयोपदर्शितो निःश्रेयसस्य पारमार्थिकः पन्था इति मतिं व्यवस्थापयति । —प्रवचनसार गाथा ८२ की उत्थानिका

पर ये अव्यवस्थित मतिवाले लोग जगत को व्यवस्थित करने के विकल्पों मे ही उलझे हैं; ज्यो-ज्यों सुलझने का यत्न करते है और अधिक उलझते जाते हैं। क्योकि जहाँ अव्यवस्था है, वहाँ उनका ध्यान ही नही है, और जहाँ सब-कुछ पूर्ण व्यवस्थित है, जहाँ कुछ भी फेर-फार सभव नही है; वहाँ के व्यवस्थापक बनने की धुन मे विकल हो रहे हैं, और तब तक होते रहेगे जब तक कि स्वय अपनी मति को वस्तुस्वरूप के अनुकूल व्यवस्थित नही करेंगे।

एक बात यह भी तो है कि कर्तृत्व के अहंकार से ग्रस्त प्राणियो की मति व्यवस्थित हो भी तो नही सकती। क्योकि व्यवस्थापक बनने की धुन मे मस्त जगत यह स्वीकार कैसे कर सकता है कि जगत स्वय व्यवस्थित है।

यदि जगत को स्वय व्यवस्थित मान लेगे तो वे व्यवस्थापक कैसे रहेगे, किसके रहेगे ? उनके व्यवस्थापक बने रहने के लिए यह आवश्यक है कि जगत अव्यवस्थित हो, अन्यथा वे व्यवस्था किसकी करेंगे, क्या करेंगे ? यही कारण है कि व्यवस्थापको की समझ मे व्यवस्थित-व्यवस्था नही आ सकती, क्योकि उससे उनके अह को चोट लगती है, व्यवस्थापकत्व का अधिकार छिनता है।

व्यवस्थापक को तो एक अव्यवस्थित जगत चाहिए, जिसकी व्यवस्था वह करे और शान से व्यवस्थापक बना रहे। यही कारण है कि सुनिश्चित स्वयचालित व्यवस्था जगत को समझ मे नही आती और उसकी मति व्यवस्थित नही होती।

'सर्वज्ञता' और 'क्रमबद्धपर्याय' की श्रद्धा – प्रतीति बिना मति व्यवस्थित हो ही नही सकती।

चाहे कितना ही ईमानदार व्यवस्थापक क्यो न हो, व्यवस्थापक द्वारा की गई व्यवस्था कभी भी पूर्ण व्यवस्थित, सही व न्यायसंगत नही हो सकती, स्वयचालित व्यवस्था ही पूर्ण व्यवस्थित, सही व न्यायसगत होती है।

एक तुलने की मशीन है, जिसमें दश पैसे का सिक्का डालने से आपका सही वज़न ज्ञात हो जाता है। उस मशीन से जितने भी व्यक्ति अपना वजन ज्ञात करेंगे, उतने दश पैसे के सिक्के उसके पेट में अवश्य निकलेंगे। ऐसा नहीं हो सकता कि कोई पैसा न डाले और अपना वजन ज्ञात करले, चाहे वह उस मशीन का मालिक ही क्यों न हो। उसे भी यदि अपना वजन ज्ञात करना है तो मशीन में सिक्का डालना ही होगा। किन्तु ऐसा आदमी चिराग लेकर ढूंढने पर भी शायद न मिले कि जिसके जिम्मे कांटा कर दिया जाय और कहा जाय कि जो तुले उससे दश पैसे ले लेना। वह स्वयं तुलेगा और पैसा जमा नहीं करेगा, अपने बच्चों को तोलेगा और पैसा नहीं देगा। यह संभव नहीं है कि जितने आदमी उस कांटे पर तुले, उतने पैसे उसके स्वामी को प्राप्त हो ही जावें।

अतः स्वयंचालित (ऑटोमेटिक) व्यवस्था ही ठीक है, सही है; पर व्यवस्थापक इसे नहीं मानेगा, क्योंकि इससे वह बेकार होता है, उसका कर्तृत्व छिनता है, अहंकार टूटता है। यही कारण है कि उसकी मति व्यवस्थित नहीं हो पाती।

व्यवस्थित-व्यवस्था में बेईमानी संभव नहीं है। यही कारण है कि जो नियमितक्रम अर्थात् व्यवस्थित-व्यवस्था को भंग कर समय के पहिले काम कर लेने की भावना रखते हैं, उन्हें व्यवस्थित-व्यवस्था सहज स्वीकार नहीं होती।

"पैसे से आज क्या नहीं हो सकता, पैसों से क्या नहीं मिल सकता? पैसा एक ऐसी शक्ति है जिसके सामने कोई नियम नहीं चल सकता। उसके सामने सब व्यवस्थाएँ बेकार हैं। पैसों के बल पर मैं जो चाहूँ कर सकता हूँ। पैसों से सारी व्यवस्थाएँ बदली जा सकती हैं।" – इसप्रकार के या इसीप्रकार के अन्य किसी अभिमान से ग्रस्त बेईमान जगत की मति का व्यवस्थित होना असंभव नहीं, तो कठिन अवश्य है। उसे एक व्यवस्थित-व्यवस्था अर्थात् *क्रमबद्धपर्याय* की स्वीकृति होना आसान नहीं है।

पर भाई! इस मनुष्य भव में करने योग्य तो एकमात्र यही कार्य है कि हम अपनी मति को व्यवस्थित करें।

सर्वज्ञता के निर्णय से, क्रमबद्धपर्याय के निर्णय से मति व्यवस्थित हो जाती है, कर्त्तृत्व का अहकार गल जाता है, सहज ज्ञातादृष्टापने का पुरुषार्थ जागृत होता है, पर मे फेर-फार करने की बुद्धि समाप्त हो जाती है; इसकारण तत्सबधी आकुलता-व्याकुलता भी चली जाती है, अतीन्द्रिय आनन्द प्रगट होने के साथ-साथ अनन्त शाति का अनुभव होता है।

सर्वज्ञता के निर्णय और क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा से इतने लाभ तो तत्काल प्राप्त होते हैं। इसके पश्चात् जब वही आत्मा, आत्मा के आश्रय से वीतराग-परिणति की वृद्धि करता जाता है, तब एक समय वह भी आता है कि जब वह पूर्ण वीतरागता और सर्वज्ञता को स्वयं प्राप्त कर लेता है। आत्मा से परमात्मा बनने का यही मार्ग है।

अत मोक्षाभिलाषी मुमुक्षु बन्धुओ को मर-पच के जैसे भी बने सर्वज्ञता का सही स्वरूप समझने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिए। सर्वज्ञता का सही स्वरूप ख्याल मे आते ही क्रमबद्धपर्याय स्वयं समझ मे आ जाएगी, उसके लिए अलग से कोई यत्न नही करना होगा।

पर ध्यान रहे सर्वज्ञता परोन्मुखी वृत्ति से समझ मे आने वाली वस्तु नही, सर्वज्ञता की पर्याय के सन्मुख हुई दृष्टि से भी सर्वज्ञता नही समझी जा सकती; सर्वज्ञस्वभावी आत्मा के आश्रय से सर्वज्ञता समझ मे आती है। सर्वज्ञता का सही स्वरूप समझने के लिए आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ अपेक्षित है। क्रमबद्धपर्याय समझने का भी एकमात्र यही उपाय है।

सभी प्राणी 'क्रमबद्धपर्याय' और 'सर्वज्ञता' का सही स्वरूप समझकर स्वभाव-सन्मुख हो और अनत शाति व अतीन्द्रिय आनन्द प्राप्त करें, कालान्तर मे यथासमय सर्वज्ञता को प्राप्त कर परम सुखी हो – इस भावना के साथ विराम लेता हूँ।

जो-जो देखी वीतराग ने, सो-सो होसी वीरा रे।
बिन देख्यो होसी नहिं क्योंही, काहे होत अधीरा रे॥
जो-जो देखी० ॥१॥

समयो एक बढ़ै नही घटसी, जो सुख-दुःख की पीरा रे।
तू क्यों सोच करै मन मूरख, होय वज्र ज्यों हीरा रे॥
जो-जो देखी० ॥२॥

लगै न तीर कमान वान कहुँ, मार सकै नही मीरा रे।
तू सम्हारि पौरुष वल अपनो, सुख अनन्त तो तीरा रे॥
जो-जो देखी० ॥३॥

निश्चय ध्यान धरहु वा प्रभु को, जो टारे भव भीरा रे।
'भैया' चेत धरम निज अपनो, जो तारे भव नीरा रे॥
जो-जो देखी० ॥४॥

× × × ×

हमकौं कछू भय ना रे, जान लियौ संसार॥
हमकौ कछू भय ना रे० ॥

जो निगोद मे सो ही मुझ मे, सो ही मोख मंझार।
निश्चय भेद कछू भी नाही, भेद गिनै संसार॥
हमकौं कछू भय ना रे० ॥१॥

परवश ह्वै आपा विसारि कै, राग-दोप कौ धार।
जीवत-मरत अनादि काल ते, यौ ही है उरझार॥
हमकौ कछू भय ना रे० ॥२॥

जाकरि जैसै जाहि समय मे, जो होतव जा द्वार।
सो वनिहै टरिहै कछु नाहीं, करि लीनौं निरधार॥
हमको कछू भय ना रे० ॥३॥

अगनि जरावै पानी वोवै, विछुरत मिलत अपार।
सो पुद्‌गलरूपी मैं 'वुधजन', सवकौ जाननहार॥
हमकौ कछू भय ना रे० ॥४॥

द्वितीय खण्ड

क्रमबद्धपर्याय : कुछ प्रश्नोत्तर

आज के इस बहुचर्चित विषय 'क्रमबद्धपर्याय' की विस्तृत चर्चा के उपरान्त भी कुछ शकाएँ, आशंकाएँ और प्रश्न उपस्थित किये जाते रहे हैं।

गत एक वर्ष से आत्मधर्म के सम्पादकीयो एव प्रवचनो के माध्यम से क्रमबद्धपर्याय की चर्चा निरन्तर चलती रही है। इस 'क्रमबद्ध' वर्ष (सन् १९७९ ई०) मे इसका प्रचार व प्रसार भी बहुत हुआ है। अत अनेकानेक अभ्यासी आत्मार्थी बन्धुओ की ओर से भी कुछ स्पष्टीकरण चाहने वाले प्रश्न निरन्तर आते रहे हैं।

यद्यपि 'क्रमबद्धपर्याय एक अनुशीलन' मे बहुत-कुछ स्पष्टीकरण आ गया है तथापि विषय के सर्वाङ्गीण स्पष्टीकरण के लिए उन पर भी विचार कर लेना असगत न होगा।

इसी भावना से कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्नोत्तर यहाँ दिए जा रहे हैं। विषय की पुनरावृत्ति न हो और सभी सम्भावित प्रश्नो के उत्तर भी आ जावें – इस दृष्टि से समागत प्रश्नो को हूबहू न रखकर सभी सभावित प्रश्नो को ध्यान मे रखते हुए इस प्रश्नोत्तरमाला को व्यवस्थित रूप देना उचित प्रतीत हुआ। तदनुसार कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्नोत्तर यहाँ दिये जा रहे है :–

(१) प्रश्न :– समयसार गाथा ३०८ से ३११ की टीका मे समागत जिन पंक्तियो को 'क्रमबद्धपर्याय' के समर्थन मे प्रस्तुत किया जाता है, उनका आशय तो मात्र इतना ही है कि जीव, अजीव नही है और अजीव, जीव नही है। उसमे तो मात्र दो द्रव्यो की भिन्नता बताई है, उसमे से पर्यायें क्रमबद्ध ही होती हैं – यह बात कहाँ निकलती है ?

उत्तर :– उक्त पंक्तियो मे दो द्रव्यो की मात्र भिन्नता सिद्ध नही की गई है, अपितु स्पष्ट कहा गया है कि "जीव क्रमनियमित अपने परिणामो से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नही; इसीप्रकार अजीव भी अपने क्रमनियमित परिणामो से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है, जीव नही।"

यहाँ दो द्रव्यो की भिन्नता के साथ-साथ द्रव्यो के परिणमन की व्यवस्था भी बताई गयी है। साथ ही यह भी स्पष्ट किया गया है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्त्ता-हर्त्ता नही है, प्रत्येक द्रव्य अपने परिणमन का कर्त्ता-हर्त्ता स्वयं है और वह परिणमन भी अव्यवस्थित नही है, नियमित है; नियमित ही नही, अपितु एक निश्चित क्रम मे नियमित अर्थात् बधा हुआ है, पूर्ण व्यवस्थित एव निश्चित है।

और अधिक स्पष्ट करें तो इसमे जीव को अकर्त्ता सिद्ध किया गया है, जैसा कि गाथा की उत्थानिका एवं टीका की अन्तिम पंक्ति से स्पष्ट है। जो कि – इसप्रकार है :–

"अथात्मनोऽकर्तृत्वं दृष्टान्तपुरस्सरमाख्याति।
अब आत्मा का अकर्तृत्व दृष्टान्तपूर्वक सिद्ध करते है।"

"अतो जीवोऽकर्त्ता अवतिष्ठते।
इसलिए जीव अकर्त्ता सिद्ध होता है।"

जीव से अजीव की भिन्नता तो जीवाजीवाधिकार मे ही स्पष्ट कर आये थे, सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार मे उसकी चर्चा की क्या आवश्यकता थी? यहाँ तो जीव अपने क्रमनियमित परिणामो से स्वयं परिणमता हुआ – बदलता हुआ भी इतना नही बदल जाता कि वह अजीव हो जाय – यह बात कही जा रही है। उसके बदलने की भी एक सीमा है, वह अपने मे ही बदल सकता है। बदलकर भी अपने रूप ही रहता है, पर-रूप नही होता; पर-पदार्थ भी उसरूप नही होता।

जो ज्ञानगुण अभी कुमतिज्ञानरूप है, वह बदलकर अगले क्षण सुमतिज्ञान हो सकता है, सुमतिज्ञान से पलटकर ज्ञान अगले क्षण

केवलज्ञानरूप हो सकता है; पर ऐसा कभी नही हो सकता कि वह रसरूप हो जाय, रगरूप हो जाय या सुखरूप होजाय। पर्याय के बदलाव की भी एक मर्यादा है, और वह भी नियमित है; वह हमारी इच्छानुसार नही, बल्कि अपने निश्चित क्रमानुसार बदलती है। यह बात यहाँ स्पष्ट की गई है।

एक द्रव्य दूसरे का कुछ भी परिणमन नही करता, करे तो वह उसरूप हो जाय अर्थात् जब वह उसरूप होवे तब वह उसे परिणमा सकता है, अन्यथा नही। अजीव को परिणमाने-बदलने के लिए जीव को अजीवरूप होना होगा। जब वह स्वय अजीवरूप हो, तब वह अजीव के परिणमन का कर्ता हो सकता है, और ऐसा कभी होता नही। इससे यह सिद्ध हुआ कि जीव अपने क्रमनियमित परिणामो मे परिणमता-बदलता हुआ जीव ही रहता है, अजीव नही हो जाता।

दूसरी बात यह है कि यद्यपि जीव अपने परिणामो का कर्त्ता है, तथापि उसे करने का कुछ बोझा उसके माथे पर नही है, क्योकि वह परिणमन भी सहज होता है और अपने नियमितक्रम मे होता है। यही बात यहाँ स्पष्ट की गई है। पुद्गलादि अजीव द्रव्य अपने परिणमन का कोई बोझा नही रखते, तो क्या उनका परिणमन रुक जाता है। यदि नही, तो फिर जीव ही अपने माथे पर बोझा क्यो रखे ?

परिणमन को निश्चित बताकर द्रव्य-गुण का कुछ अधिकार कम नही किया गया है अपितु बोझा हटाया है, क्योकि वह अपने परिणाम का अधिकृत कर्त्ता और भोक्ता तो है ही।

वस्तुत बात तो यह है कि जिसप्रकार द्रव्य सत् है, गुण सत् है, उसीप्रकार पर्याय भी सत् है।

द्रव्य और गुणो के बारे मे हम सबका विश्वास है कि उनमे कुछ फेर-फार सभव नही है, अत उनके बदलने का हमे विकल्प भी नही उठता। पर परिणमनशील होने से पर्याय के सम्बन्ध मे जगत की कुछ ऐसी धारणा है कि उसमे फेर-फार किया जा सकता है, अत उसमे फेर-फार करने की बुद्धि होती है।

द्रव्य-गुण के साथ पर्याय भी स्वसमय की सत् है–उसमे भी अपनी इच्छानुसार कोई फेर-फार नही किया जा सकता है। जब हमे यह विश्वास हो जावेगा तो उसमे फेर-फार करने की बुद्धि भी नही रहेगी।

पर्याय भी स्वकाल की सत् है, अचला है, पार्वती है, सती है–आदि विस्तार से स्पष्ट किया जा चुका है। अतः यहाँ विस्तार देना उपयुक्त नही है। फिर भी जो लोग पर्याय को अपनी इच्छानुसार बदलना चाहते हैं, उनसे हम पूछते हैं कि पर्यायो के अनादि-अनन्त प्रवाहक्रम में वे भूतकाल की पर्यायें बदलना चाहते हैं या वर्त्तमान की या भविष्य की ?

भूतकाल की पर्यायें तो बदली नही जा सकती, क्योकि वे तो स्वयं बदल चुकी हैं, समाप्त हो चुकी हैं, अतः उनमे तो फेर-बदल की कल्पना भी नही की जा सकती है। अब रही वर्त्तमान और भविष्य की पर्यायें। वर्त्तमान पर्याय भी हो ही रही है, उसमे भी क्या किया जा सकता है ?

इस पर यदि कर्त्तृत्व के अहकार से ग्रस्त कोई अज्ञानी कहे कि वर्त्तमान पर्याय मे कुछ क्यो नही किया जा सकता है ? लो मैं उसे अभी उखाड़ फेंकता हूँ। उससे कहते हैं भाई ! जरा विचार तो करो, वह उत्पन्न तो हो ही गई है, अत. उसे उत्पन्न होने से रोकना तो सभव नही है। अब रही बात उखाड़ फेंकने की, सो भाई उसका काल ही एकसमय है। एकसमय बाद वह स्वय उखड़ जाने वाली है, उसमे तुम्हारा क्या काम ?

दूसरी बात यह भी तो है कि हमारे क्षयोपशमज्ञान मे वह पर्याय उत्पन्न होने के असख्य समय बाद आती है। जब तक हम उसे उखाडने की सोचेंगे तब तक तो वह कभी की उखड चुकी होगी।

इस पर यदि वह कहे कि न सही भूतकाल की और वर्त्तमान की पर्याय, भविष्य की पर्यायें तो हम बदल ही सकते हैं।

उनसे कहते हैं कि भविष्य की पर्यायें अभी हैं ही कहाँ–जो आप उन्हे बदलेगे ?

इसपर यदि यह कहा जाय कि भविष्य मे बुरी पर्यायें नही आने देंगे, अच्छी-अच्छी पर्यायें लावेंगे, तो यह प्रश्न खड़ा होगा कि कौन पर्याय अच्छी है, कौन बुरी – इसका निर्णय कौन करेगा ? विभिन्न रुचय. हि लोक: – इस नीति के अनुसार अच्छे-बुरे का निर्णय भी असभव नही, तो कठिन अवश्य है ।

यदि कोई कहे कि हम अपनी रुचि के अनुसार निर्णय करेंगे, उनसे कहते हैं कि यदि आप सिर्फ अपनी ही भावी पर्याय के कर्त्ता बनते तो बात अलग थी; पर आप तो पर-पदार्थों की भी पर्यायें अपने अनुकूल बदलना चाहते है, उनमे इष्ट-अनिष्ट का निर्णय मात्र आपकी ही इच्छा से कैसे होगा ? जगत मे अन्य प्राणी भी तो हैं, उनकी इच्छा के व्याघात का प्रसग अवश्य आवेगा ।

दूसरे क्या आपको पता है कि भविष्य मे अमुक पर्याय आने वाली है जिससे आप यह निर्णय कर सकें कि अमुक पर्याय को बदल कर मैं अमुक पर्याय लाऊगा । यदि नहीं, तो फिर यह अहकार झूठा ही सिद्ध हुआ कि मैंने ऐसा नही होने दिया और ऐसा किया, क्योंकि जो कार्य सम्पन्न हुआ है – वह नही होने वाला था, अन्य होने वाला था – इसका निर्णय कैसे होगा ? हो सकता है – वही होने वाला हो, जिसे आप कहते हैं कि मैंने ऐसा किया है ।

बहुत दूर जाकर भी भविष्य की पर्यायो मे फेर-फार करने की बात सिद्ध कर पाना संभव नही है, अत. व्यर्थ प्रयास से क्या लाभ ?

अन्ततोगत्वा यह स्वीकार करना ही श्रेष्ठ है कि प्रत्येक द्रव्य क्रमनियमित अपने परिणामो से उत्पन्न होता हुआ निजरूप ही रहता है, पररूप नही होता ।

(२) **प्रश्न** :– यदि कोई किसी को नही परिणमाता तो फिर यह परिणमन होता कैसे है, इसे कौन कर जाता है ? यदि कभी यह परिणमन रुक जाय तो ? अथवा कभी धीरे-धीरे हो और कभी तेजी से – इसका नियामक कौन होगा ?

उत्तर :– प्रत्येक द्रव्य स्वय परिणमनशील है, ध्रुवता के समान परिणमन भी उसका स्वभाव है, उसे अपने परिणमन मे पर की

रंचमात्र भी अपेक्षा नही है, क्योकि स्वभाव पर-निरपेक्ष ही होता है। यह परिणमन कभी रुक जाय – इसका प्रश्न ही नही उठता, क्योकि परिणमन भी इसका नित्यस्वभाव है। अर्थात् नित्यपरिणमनशीलता प्रत्येक द्रव्य का सहज स्वभाव है। जल्दी और देरी होने की भी कोई समस्या नही है, क्योकि प्रत्येक पर्याय एकसमय की ही होती है। किसी पर्याय का दो समय रुकने का प्रश्न ही नही उठता और एकसमय के पहिले समाप्त होने का भी प्रश्न संभव नही है।

अब रही बात यह कि यह सब कौन करता है ? उसके सम्बन्ध में बात यह है कि प्रत्येक द्रव्य मे अनन्त शक्तियाँ पड़ी हैं, निरन्तर उल्लसित हो रही हैं, उनके द्वारा ही यह सब सहज होता रहता है।

(३) **प्रश्न** :– वे अनन्त शक्तियाँ कौन-कौन सी हैं, जिनके द्वारा यह सब होता है ?

उत्तर :– क्या अनन्त भी गिनाई जा सकती है ?

(४) **प्रश्न** :– कुछ तो बताइये न ?

उत्तर :– भावशक्ति, अभावशक्ति, भावाभावशक्ति, अभावभावशक्ति, भावभावशक्ति, अभावाभावशक्ति आदि।

(५) **प्रश्न** :– पर्यायो के उत्पाद और नाश मे इन शक्तियो का क्या योगदान है ? कृपया सक्षेप मे समझाइये।

उत्तर :– प्रत्येक द्रव्य मे एक ऐसी शक्ति है जिसके कारण द्रव्य अपनी वर्त्तमान अवस्था से युक्त होता है, अर्थात् उसकी निश्चित अवस्था होती ही है, जिसे भाव शक्ति कहते है।[1] प्रत्येक द्रव्य मे एक ऐसी भी शक्ति होती है जिसके कारण वर्त्तमान अवस्था के अतिरिक्त अन्य कोई अवस्था नही होती, इस शक्ति का नाम अभावशक्ति है।[2]

उक्त दोनो शक्तियो के कारण प्रत्येक द्रव्य की प्रतिसमय सुनिश्चित पर्याय ही होती है, अन्य नही।

---

[1] भूतावस्थत्वरूपा भावशक्तिः। समयसार, आत्मख्याति टीका, परिशिष्ट, पृष्ठ ५९०

[2] शून्यावस्थत्वरूपा अभावशक्ति। वही

(६) **प्रश्न :–** पर्याय को स्वसमय मे कौन लाता है और एकसमय बाद कौन हटाता है ? पर्याय स्वसमय मे आ ही जावे और अगले समय हट जाये – इसका नियामक कौन है ? यदि पर्याय स्वसमय पर न आये तो उसे कौन लावे और एकसमय बाद भी न हटे तो कौन हटाये ? ऐसी स्थिति मे या तो द्रव्य पर्याय से खाली हो जावेगा या एकसमय मे दो-दो पर्यायें हो जावेगी ।

उत्तर :– इसकी आप चिन्ता न करें। ऐसा कभी नही होगा, क्योकि प्रत्येक द्रव्य मे एक ऐसी भी शक्ति है जिसके कारण वर्त्तमान पर्याय का नियम से आगामी समय मे अभाव हो जायगा, उस शक्ति का नाम है भावाभावशक्ति ।[1] तथा एक शक्ति ऐसी भी है जिसके कारण आगामी समय मे होने वाली पर्याय नियम से उत्पन्न होगी ही । इस शक्ति का नाम है अभावभावशक्ति ।[2]

जो पर्याय जिस समय होनी है, वह पर्याय उस समय नियम से होगी ही, ऐसी भी एक शक्ति प्रत्येक द्रव्य मे है जिसका नाम है भावाभावशक्ति ।[3] तथा एक शक्ति ऐसी भी है कि जिसके कारण जो पर्याय जिस समय नही होनी है, वह नियम से नही होगी, उस शक्ति का नाम है अभावाभावशक्ति ।[4]

उक्त छह शक्तियो का स्वरूप यह सुनिश्चित सिद्ध करता है कि जिस द्रव्य की, जो पर्याय, जिस समय, अपने उपादान के अनुसार जैसी होनी होती है; वह स्वय नियम से उसी समय, वैसी ही होती है उसमे पर की रचमात्र भी अपेक्षा नही रहती ।

सर्वश्रेष्ठ दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्द के प्रसिद्ध परमागम समयसार की आचार्य अमृतचन्द्रकृत आत्मख्याति टीका के अन्त मे परिशिष्ट मे समागत ४७ शक्तियो पर श्री कानजीस्वामी के विस्तृत प्रवचन

---

[1] भवत्पर्यायव्ययरूपा भावाभावशक्ति । समयसार, आत्मख्याति टीका, परिशिष्ठ, पृष्ठ ५९१

[2] अभवत्पर्यायोदयरूपा अभावभावशक्ति । वही

[3] भवत्पर्यायभवनरूपा भावभाव शक्ति । वही

[4] अभवत्पर्यायाभवनरूपा अभावाभावशक्ति । वही

'आत्मप्रसिद्धि' नाम से हिन्दी मे और 'आत्म-वैभव' नाम से गुजराती में प्रकाशित हुए हैं – विशेष जिज्ञासा रखने वाले आत्मार्थी बन्धुओ को अपनी जिज्ञासा वहाँ से शान्त करना चाहिये। यहाँ पर उनकी विस्तृत चर्चा के लिए न तो अवकाश ही है और न वह न्यायसंगत ही है।

(७) **प्रश्न :–** जब हम अपनी पर्याय को भी नही बदल सकते तो फिर हमारे परिणमन के कर्त्ता भी हम क्या रहे ?

उत्तर :– 'हम अपनी पर्याय को भी नही बदल सकते' – जब यह कहा जाता है तब उसका आशय यह होता है कि हम उसके निश्चित क्रम में कोई फेर-बदल नही कर सकते, यह नही होता कि उसके परिणमन के कर्त्ता भी हम नही हैं। छठवें प्रश्न के उत्तर मे जिन छह शक्तियों की चर्चा की गई है वे द्रव्य की स्वशक्तियाँ ही तो हैं, उनके कारण ही तो पर्याय स्वसमय मे होती है। इसलिए अपनी पर्याय का कर्त्ता तो द्रव्य है ही।

जिनवाणी में एक अपेक्षा यह भी आती है – जिसमे पर्याय का कर्त्ता पर्याय को कहा जाता है, द्रव्य को नही। त्रिकाली उपादान की अपेक्षा पर्याय का कर्त्ता वह द्रव्य या गुण कहा जाता है जिसकी वह पर्याय होती है; और क्षणिक उपादान की अपेक्षा तत्समय की योग्यता ही कार्य की नियामक होने से पर्याय को ही पर्याय का कर्त्ता कहा जाता है। यह पर्याय की स्वतंत्रता की चरम परिणति है, जो उसके सहज क्रमनियमित परिणमन को सिद्ध करती है।

परिणमनशीलता द्रव्य का सहज स्वभाव है और स्वभाव सदा परनिरपेक्ष होता है। अतः प्रत्येक द्रव्य को अपने परिणमन मे पर की रचमात्र भी अपेक्षा नही है। कोई भी द्रव्य एकसमय को भी परिणमन से खाली नही रहता। यदि एकसमय भी परिणमन रुक जाये तो द्रव्य का द्रव्यत्व ही कायम न रहे। द्रवणशीलता – परिणमन-शीलता का नाम ही द्रव्य है।

परिणमन-स्वभाव के अभाव मे स्वभाववान द्रव्य की सत्ता के अभाव का प्रसग भी उपस्थित हो जाएगा। जिसप्रकार शरीर मे जो खून दौड़ता है, यदि वह दौडना बन्द कर दे तो हृदयगति रुक जाने मे

मनुष्य को मौत का प्रसग उपस्थित हो जाता है; उसीप्रकार यदि किसी द्रव्य का एकसमय को भी परिणमन रुक जाये तो उसकी मौत (अभाव) का प्रसग उपस्थित होगा। और द्रव्य के अभाव के साथ-साथ विश्व के अभाव का भी प्रसग आयेगा, क्योंकि छह द्रव्यो के समूह का नाम ही तो विश्व है।

जिसप्रकार खून निरन्तर दौडता है, फिर भी थकता नही, क्योकि दौडना ही उसका जीवन है, निरन्तर गति करने मे ही उसकी सुगति है; उसीप्रकार द्रव्य को निरन्तर परिणमन मे कोई कठिनाई नही आती, निरन्तर परिणमन ही उसका जीवन है।

उसके लिए यह कोई समस्या नही है कि प्रतिसमय नई-नई पर्यायें कहाँ से लायेंगे ? वे स्वभाव मे से सहज आती हैं, उन्हे कही से लाना नही पडता; वे परमुखापेक्षी नही हैं। यदि उन्हे अन्य की अपेक्षा हो तो द्रव्य पराधीन हो जावे या परिणमन उसका स्वभाव न रहे, क्योकि स्वभाव को पर की अपेक्षा नही होती। जिसमे पर की अपेक्षा हो वह स्वभाव कैसा ?

इसीलिए तो कहा है :—

'यह जगत स्वय परिणमनशील, केवलीज्ञानी ने गाया है।'

अथवा

'होता स्वय जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम।'

(८) प्रश्न —जब हम पर का कुछ कर ही नही सकते तो फिर हमारी स्वतत्रता ही क्या रही ?

उत्तर —क्या पर मे कुछ करने का नाम ही स्वतंत्रता है ? जब यह कहा जाता है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी नही कर सकता तब उसका अर्थ आप मात्र इतना ही क्यो लेते हैं कि आप दूसरे का कुछ नही कर सकते, यह क्यो नही लेते कि आपका भी तो कोई कुछ नही कर सकता ?

जब आप यह विचार करेंगे तो आपको स्वतत्रता अनुभव होगी कि देखो मेरा कोई भी कुछ नही बिगाड़ सकता।

जब किसी राज्य के सम्बन्ध मे यह कहा जाय कि इस राज्य मे कोई किसी को लूट नही सकता, मा‸ नही सकता, दुःखी नही कर सकता; तो यह कोई नही कहता कि यह कैसा खोटा राज्य है कि इसमे कोई किसी को लुट नही सकता, मार नही सकता, दुःखी नही कर सकता; वल्कि यह कहता है कि यह कितना अच्छा राज्य है।

जिसप्रकार ऐसा तो कोई हत्यारा या चोर ही कह सकता है कि यह कैसा राज्य है कि इसमें मारने या लूटने की भी स्वतत्रता नही है; उसीप्रकार ऐसा तो कोई कर्त्तृत्व के अहकार से ग्रस्त अज्ञानी ही कह सकता है कि यह कैसा वस्तुस्वरूप है कि जिसमे हम पर का कुछ कर ही नही सकते ।

क्रमबद्धपर्याय की वात तो अनन्त स्वतत्रता की सूचक है। इसको बुद्धिपूर्वक हृदय से स्वीकार करने वाले को तो अनन्त स्वतत्रता की प्रतीति होती है। यह जानकर किसको प्रसन्नता नही होगी कि हमारा सुख-दुःख, जोवन-मरण, भला-बुरा सब-कुछ हमारे अधिकार मे है, उसमे किसी का कुछ भी हस्तक्षेप नहीं है ।

यह जानकर भी जिसको प्रसन्नता न हो, समझना चाहिए या तो वह गुलामवृत्ति का व्यक्ति है या फिर अन्यो को गुलाम बनाकर रखने की वृत्ति वाला है ।

'क्रमबद्धपर्याय' मे वस्तु की अनंत स्वतंत्रता की घोषणा है।

(६) **प्रश्न** :– ज्ञानी भी तो यह कहते देखे जाते है कि मैंने ऐसा किया, वैसा किया ?

उत्तर :– हाँ ! यह वात सही है कि ज्ञानी के जीवन मे भी ऐसा वचन-व्यवहार देखा जाता है, पर उसकी मान्यता ऐसी नही होती। मान्यता तो उसकी वस्तुस्वरूप के अनुकूल ही होती है, क्योकि ऐसा कहना तो व्यवहार है और मानना मिथ्यात्व है ।

जिसप्रकार सम्यग्दृष्टि ज्ञानीआत्मा स्त्री-पुत्र, मकान, जायदाद आदि सयोगी पदार्थों को अपना कहता देखा जाता है कि यह मेरी स्त्री है, ये मेरे पुत्र, हैं, यह मेरा मकान है – पर मानता यही है कि ये कुछ

भी मेरे नही; उसीप्रकार पर में करने आदि का वचन-व्यवहार भी उनके देखा जाता है। कथन मात्र से वे मिथ्यादृष्टि नही हो जाते, क्योंकि मिथ्यात्व तो मान्यता सबधी दोष है।

इस सन्दर्भ मे पडितप्रवर टोडरमलजी के विचार दृष्टव्य हैं :-

"जैसे कोई गुमाश्ता सेठ के कार्य मे प्रवर्त्तता है, उस कार्य को अपना भी कहता है, हर्ष-विषाद को भी प्राप्त होता, उस कार्य मे प्रवर्त्तते हुए अपनी और सेठ की जुदाई का विचार नही करता, परन्तु अन्तरग श्रद्धान ऐसा है कि यह मेरा कार्य नही है। ऐसा कार्य करता गुमाश्ता साहूकार है। यदि वह सेठ के धन को चुराकर अपना माने तो गुमाश्ता चोर होय। उसीप्रकार कर्मोदयजनित शुभाशुभरूप कार्य को करता हुआ तद्रूप परिणमित हो, तथापि अन्तरग मे ऐसा श्रद्धान है कि यह कार्य मेरा नही है। यदि शरीराश्रित व्रत-सयम को भी माने तो मिथ्यादृष्टि होय।"[1]

(१०) **प्रश्न :-** इसका अर्थ तो यह हुआ कि ज्ञानी की मान्यता और कथन मे अन्तर होता है?

उत्तर :- हाँ, अवश्य होता है; पर इसका कारण ज्ञानी के हृदय की अपवित्रता नही, अपितु वस्तु की स्थिति है। क्योंकि ज्ञानी की मान्यता तो वस्तुस्वरूप के अनुसार होती है और वचन-व्यवहार लोकप्रचलित व्यवहार के अनुसार होता है।

वस्तुस्वरूप की अपेक्षा विचार करें तो स्त्री-पुत्रादि, मकान-जायदाद किसी के नही हैं, फिर भी लोक मे इन्हे अपने कहने का व्यवहार प्रचलित है। मान्यता का सम्बन्ध सीधा वस्तुस्वरूप से है और वाणी का व्यवहार लौकिकजनो से होता है। अत ज्ञानी की मान्यता तो वस्तुस्वरूप के अनुसार होती है और वचन-व्यवहार लोक-व्यवहार के अनुसार होता है।

आचार्य अमृतचन्द्र समयसार की आत्मख्याति टीका के आरम्भ मे लिखते हैं कि "इस टीका के करने से मेरी परिणति परमविशुद्धि को

---

[1] रहस्यपूर्ण चिट्ठी (मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ ३४२)

प्राप्त हो।"[1] और टीका के अन्त मे लिखते हैं कि "इस टीका के बनाने मे स्वरूपगुप्त अमृतचद्र आचार्य का कुछ भी कर्त्तृत्व (कार्य) नही है।"[2]

इसीप्रकार की चर्चा पण्डित टोडरमलजी ने सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका की पीठिका एवं प्रशस्ति मे की है। पीठिका मे तो टोका लिखने की चर्चा करते हैं एव लिखने के प्रयोजन आदि को विस्तार से स्पष्ट करते हैं। तथा अन्त मे प्रशस्ति मे लिखते हैं :-

वचनादिक लिखनादिक क्रिया, वर्णादिक अरु इन्द्रिय हिया।
ये सब हैं पुद्गल के खेल, इनमें नाहिं हमारो मेल ॥
रागादिक वचनादिक घना, इनके कारण कारिज पना।
तातें भिन्न न देख्यो कोय, बिनु विवेक जग अंधा होय ॥
ज्ञान राग तो मेरौ मिल्यौ, लिखनौ करनौ तनु को मिल्यौ।
कागज मसि अक्षर आकार, लिखिया अर्थ प्रकाशन हार ॥
ऐसौ पुस्तक भयो महान, जातें जानें अर्थ सुजान।
यद्यपि यहु पुद्गल कौ खद, है तथापि श्रुतज्ञान निबंध ॥[3]

आचार्य अमृतचन्द्र और पण्डित टोडरमलजी – दोनों ही ज्ञानी आत्मा थे। उनके उक्त कथनो से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसमे कोई छल नही है। जबतक वचन-व्यवहार है, तबतक मान्यता और वाणी का यह अन्तर तो रहेगा ही।

क्षायिकसम्यग्दृष्टि भरतादि चक्रवर्ती भी छहखण्ड की विभूति को अपनी कहते ही थे, पर मानते नही थे। यह चौथे, पाचवें और छठवे गुणस्थान की भूमिका मे पाया जाने वाला पर्यायगत सत्य है – इसे जानना भी आवश्यक है। इस सत्य की स्वीकृति बिना इसप्रकार की शंका बनी ही रहेगी।

---

[1] परपरिणतिहेतोर्मोहनाम्नोऽनुभावा –
दविरतमनुभाव्यव्याप्तिकल्माषितायाः।
मम परमविशुद्धि शुद्धचिन्मात्रमूर्ते –
र्भवतु समयसारव्याख्ययैवानुभूते ॥३॥

[2] स्वशक्तिससूचितवस्तुतत्त्वैर्व्याख्या कृतेय समयस्य शब्दै।
स्वरूपगुप्तस्य न किंचिदस्ति कर्तव्यमेवामृतचद्रसूरे ॥२७८॥

[3] मोक्षमार्गप्रकाशक, प्रस्तावना, पृष्ठ २१

(११) प्रश्न :– जब सुख-दु ख, जीवन-मरण सब कुछ नियत हैं, स्वकाल मे ही होते हैं, तो फिर अकालमृत्यु नाम की तो कोई चीज ही नही रही; जबकि शास्त्रो मे अकालमृत्यु की चर्चा आती है, तत्त्वार्थसूत्र के दूसरे अध्याय के अन्तिम सूत्र मे अकालमृत्यु की बात साफ-साफ लिखी है ?

उत्तर :– विषभक्षणादि द्वारा होने वाली मृत्यु को अकालमृत्यु कहा जाता है। यह कथन आयु की उदीरणा या अपकर्षण की अपेक्षा किया जाता है, अथवा अपेक्षित आयु से पहले होने वाले मरण की अपेक्षा यह कथन होता है, वस्तुस्थिति की अपेक्षा नही; क्योंकि केवली भगवान के ज्ञान मे तो जिसकाल उसका मरण होना ज्ञात हुआ था, उसी काल मे हुआ है; अत: वह भी स्वकालमरण ही है, अकालमरण नही।

तत्त्वार्थसूत्र मे भी आयुकर्म की स्थिति के अपकर्षण की बात ही कही गई है। तत्त्वार्थसूत्र के जिस सूत्र में उक्त चर्चा है, वह इसप्रकार है :–

"औपपादिकचरमोत्तमदेहाऽसंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुष ॥[1]

उपपाद जन्मवाले देव और नारकी, चरमोत्तम देहवाले अर्थात् उसी भव से मोक्ष जाने वाले और असख्यात वर्ष की आयु वाले भोगभूमियो की आयु अपवर्तन रहित होती है, अर्थात् उनकी आयु का उसी भव मे अपकर्षण नही होता।

आयु दो प्रकार की होती है– (१) भुज्यमान आयु और (२) वध्यमान आयु।

जिस आयु को जीव वर्त्तमान मे भोग रहा है, उसे भुज्यमान आयु कहते हैं और जो आयु बध तो गई है, पर जिसका उपभोग अगले भव मे होगा, उसे वध्यमान आयु कहते हैं।

वध्यमान आयु की स्थिति मे तो सभी का अपकर्षण हो सकता है, पर भुज्यमान आयु का अपकर्षण उक्त सूत्र मे कथित जीवो के नही होता है – यह बताना उक्त सूत्र का उद्देश्य है।

---
[1] अध्याय २, सूत्र ५३

राजा श्रेणिक ने तेतीस सागर की नरकायु की स्थिति बांधी थी और उसका अपकर्षण होकर चौरासी हजार वर्ष की रह गई, पर यह पूर्व भव में ही हुआ; नरकायु का उपभोग आरंभ होने के बाद उसका अपकर्षण संभव नहीं है। जबकि उक्त सूत्र में कथित जीवो को छोड़कर अन्यजीवो की आयु का अपकर्षण उसी भव मे भी हो जाता है।

यह सम्पूर्ण चर्चा आयु के अपकर्षण की है, इससे क्रमबद्धपर्याय की निश्चितता में कोई अन्तर नही पडता।

जैसे जब हम किसी दुकानदार के पास खरीदा हुआ सामान पसंद न आने पर वापिस करने जाते हैं, तो वह पैकिटबंद सामान तो सभी वापिस कर लेता है, पर पैकिट खुल जाने पर कुछ सामान तो वापिस कर लेता और कुछ नही करता है; उसीप्रकार जिस आयु का उपभोग आरभ नही हुआ है, उसमें तो सभी मे अपकर्षण संभव है, पर उपभोग आरंभ हो जाने पर उक्त सूत्र मे कथित आयु का अपकर्षण संभव नही है, यही बात उक्त सूत्र मे बताई गयी है।

इससे काल की नियमितता मे कोई अंतर नही आता और न ही अन्य समवायो की उपेक्षा ही होती है, क्योकि आयु का अपकर्षण भी तो अन्य समवायों की सापेक्षता से होता है।

वस्तुत: यह कथन अकालमृत्यु का न होकर आयु के अपकर्षण का है।

इस सन्दर्भ मे जैनेन्द्रसिद्धान्तकोशकार श्री जिनेन्द्रवर्णी का निम्नलिखित कथन दृष्टव्य है :–

"पाचवां प्रश्न है अकालमृत्यु सम्बन्धी। समय से पहले विषभक्षण आदि से होने वाली मृत्यु को 'अकालमृत्यु' कहते हैं। कर्मसिद्धान्त के अन्तर्गत पूर्वबद्ध कर्मों की स्थिति आदि के घटने-बढने को 'अपकर्षण' व 'उत्कर्षण' कहते हैं और प्रकृति के बदल जाने को 'सक्रमण' कहते हैं। समय से पहले कर्म को उदय मे लाना 'उदीरणा' कहलाती है और समय से पहले उन्हे झाड देना 'निर्जरा' कहलाती है।

आगमकथित ये सब विषय नियति के बाधक हैं, ऐसी आशंका भी करनी योग्य नही, क्योकि उसका उत्तर तो वही उपरोक्त विकल्प है, जिसके आने पर तदनुरूप ही प्रवृत्ति स्वत: होती है। तीव्रराग

आने पर ही विषभक्षण आदि का कार्य होता है, उसके अभाव मे नही। इसीप्रकार अपकर्षण, उदीरणा व निर्जरा आदि के सम्बन्ध मे भी जानना। क्योंकि अकालमृत्यु का अर्थ आयुकर्म की उदीरणा के अतिरिक्त और कुछ नही है।

अकाल तो केवल इसलिए कही जाती है कि जितनी आयु बंधी, उतनी स्थिति पूरी नही की। वास्तव मे कोई भी कर्म ऐसा नही जिसकी स्थिति बन्ध के अनुसार ही उदय मे आती हो। बुद्धिहीन सूक्ष्म प्राणियो मे भी ये उत्कर्षण आदि बराबर हो रहे हैं। जैसा-जैसा विकल्प उस-उस समय आता है, वैसी-वैसी प्रवृत्ति ही उस-उस समय होती है, तत्फलस्वरूप वैसा-वैसा ही नवीन बन्ध व उत्कर्षण आदि होता है। उत्कर्षण आदि के परिणाम कोई और हों और बन्ध के कोई और – ऐसा नही है। एकसमय के जिस एक परिणाम या प्रवृत्ति से बन्ध होता है, उसी से उसीसमय यथायोग्य उत्कर्षण, अपकर्षण आदि भी होते हैं; अत. इनसे नियति बाधित नही हो सकती।[1]"

(१२) **प्रश्न :–** आप ऐसा क्यो कहते हैं कि केवली के ज्ञानानुसार प्रत्येक मृत्यु स्वकाल मे ही होती है, क्योकि इससे तो ऐसी ध्वनि निकलती है कि किसी अपेक्षा अकालमृत्यु भी होती होगी ?

उत्तर :– होती तो क्या है, कही अवश्य जाती है। अपकर्षण, उदीरणा आदि की अपेक्षा इसप्रकार का कथन होता है। इसे क्षयोपशम ज्ञान की अपेक्षा भी कह सकते हैं।

जैसे – एक घडे मे दश लीटर पानी है और उसमे एक छेद भी है, जिसमे से वह पानी एक घटे मे एक लीटर की रफ्तार से निकल रहा है।

यदि गणितज्ञ से पूछा जाए कि वह घडा कितने समय मे खाली हो जावेगा तो वह अपने गणितानुसार दश घटे ही बतायेगा जो कि सही ही है, पर यदि किसी भी भविष्यज्ञानी से पूछा जाए कि वह घडा कब तक खाली हो जावेगा तो वह यह भी बता सकता है कि पाँच घटे मे। क्योकि उसे यह भी पता है कि पाँच घटे बाद एक बालक की ठोकर से यह घडा ढुलक जाएगा और पानी निकल जावेगा।

---

[1] शांतिपथदर्शन, पृष्ठ १२३

अब गणित की अपेक्षा उसे असमय मे खाली होना कहा जाएगा और भविष्यज्ञानी अथवा वस्तुस्थिति की अपेक्षा यह कहा जाएगा कि उसकी नियति ही यह थी; अत स्वसमय मे अपनी होनहार के अनुसार उचित निमित्तपूर्वक ही सब-कुछ घटित हुआ है।

इसीप्रकार जैसे किसी अपराधी को दश वर्ष की सजा हुई है - जब उसने न्यायाधीश से, वकील से, जेलर से पूछा कि मैं जेल से कब छूटूँगा ? तो सभी ने एक स्वर से यही उत्तर दिया कि दश वर्ष बाद। और इस कथन को झूठ भी नही कहा जा सकता है। पर जब किसी भी भविष्यज्ञानी से पूछा जाएगा तो वह यह भी कह सकता है कि पाँच वर्ष बाद, क्योकि उसे पता है कि पाँच वर्ष बाद राजा के पुत्र का जन्म होगा और उसकी खुशी मे सभी कैदी छोड दिये जावेंगे और यह भी छूट जावेगा।

न्यायाधीशादि का कथन फैसले मे दी गई सजा के आधार पर है और भविष्यवक्ता का कथन वास्तविकता के आधार पर है, अत वह वास्तविक है और न्यायाधीशादि का सापेक्ष।

उसीप्रकार किसी जीव ने आयुकर्म की स्थिति अस्सी वर्ष की बाधी है और चालीस वर्ष की उम्र मे उसका अपकर्षण होना है या उसे उदीरणा होकर खिर जाना है। बीस वर्ष की उम्र मे उसने अवधिज्ञानी से जिसका कि भविष्य का ज्ञान दश वर्ष से अधिक नही है, पूछा कि इसका मरण कब होगा ? उसने अपने अवधिज्ञान से उसकी आयु की स्थिति जानकर बताया कि अस्सी वर्ष की उम्र मे। पर जब केवलज्ञानी से पूछा तो उन्होने बताया चालीस वर्ष की उम्र मे; तो हमें दोनो मे से कोई एक झूठा लगेगा। पर ये कथन झूठे नही, किन्तु सापेक्ष कथन होगें।

अवधिज्ञानरूप क्षयोपशमज्ञान की अपेक्षा उसे हम अकालमृत्यु कहेगें और केवलज्ञान की अपेक्षा स्वकाल मे ही मरण हुआ कहा जायगा।

अथवा स्वास्थ्य आदि देखकर हम अपेक्षा तो यह रखते हैं कि यह आदमी अस्सी वर्ष जियेगा, पर विषादिभक्षण से जब वह चालीस वर्ष की उम्र मे ही मर जाता है तो कह देते हैं - असमय में मरण हो गया है। हमारे इस ज्ञान का क्या आधार है कि उसे

चालीस वर्ष से अधिक जीना था ? विना इस ज्ञान के उसे अकाल कहना कथनमात्र के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ?

उक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मरण तो जव होना था तभी हुआ है, उसमे कोई फेर-फार नही हुआ। जो कुछ भी अन्तर आया है, वह मात्र कथन मे आया है।

जिन शब्दो मे 'अ' लगाकर निषेधवाचक वनाया जाता है, उनमे 'अकाल' भी एक शब्द है, जिसका अर्थ समय से पहिले न होकर काल से भिन्न कोई अन्य कारण होता है। क्योकि इस प्रकरण मे 'काल' शब्द का प्रयोग एक कारण के अर्थ में हुआ है।

मृत्युरूपी कार्य होने मे अनेक कारण होते हैं, उनमे काल भी एक कारण है। कथन मे अनेक कारण तो एक साथ आ नही सकते, अत किसी एक कारण को मुख्य करके कथन होता है। जव काल को मुख्य करके कथन होता है, तव उसे कालमृत्यु कहते है और जव काल मुख्यकारणरूप से दिखाई न दे और काल से भिन्न विष भक्षणादि कोई अन्य कारण मुख्य दिखाई दे तो उसे अकालमरण कहेगे। अकालमृत्यु की परिभाषा मे कहा भी गया है कि विष भक्षणादि के द्वारा होने वाली मृत्यु को अकालमृत्यु कहते है।

इससे तो यही निष्कर्ष निकलता है कि 'अकाल' शब्द असमय का सूचक न होकर काल के अतिरिक्त अन्य कारणो का द्योतक है।

जव हम किसी के मरने पर पूछते हैं कि कल तक तो वह ठीक था, आखिर उसे अचानक हुआ क्या ? तो यही उत्तर मिलता है कि कुछ नही, समझ लो उसका काल ही आ गया था। जिसका काल आ जाय, उसे कौन वचा सकता है ? फिर कोई कारण का पता चलता तो उसका इलाज भी किया जाता।

तथा यदि कोई विषभक्षण, एक्सीडेंट आदि अन्य कारण दिखाई देता है तो कोई यह नही कहता कि उनका काल ही आ गया था, अपितु यह कहा जाता है कि घर से तो अच्छे चले थे, पर एक्सीडेंट हो गया या किसी ने जहर दे दिया अथवा और जो कुछ हुआ होता है, कहा जाता है। साथ मे यह भी कहा जाता है कि भाई वे तो बेचारे अकालमौत के शिकार हो गए।

इसप्रकार अकालमृत्यु असमय की सूचक न होकर काल के अतिरिक्त मुख्यरूप से अन्य कारणो से होने वाली मृत्यु की सूचक है।

इसप्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि अकालमृत्यु के कथन से 'क्रमबद्धपर्याय' की मान्यता मे कोई अन्तर नहीं पड़ता है।

(१३) प्रश्न :- यदि ऐसा माने तो क्या हानि है कि केवली के ज्ञानानुसार सब-कुछ क्रमबद्ध है और हमारे ज्ञानानुसार अक्रमबद्ध, क्योंकि केवली को भविष्य का ज्ञान है और हमें नही ? ऐसा मानने से अनेकान्त भी सिद्ध हो जाता है।

उत्तर :- हमारे मानने से वस्तु का स्वरूप दो प्रकार का थोड़े ही हो जावेगा, वह तो जैसा है, वैसा ही है; और हमे भी तो उसे वैसा ही समझना है, जैसा कि वह है; अपनी मान्यता थोड़े ही उस पर लादना है।

केवली भगवान का ज्ञान पर्यायो की क्रमबद्धता को स्पष्ट देखता-जानता है और हम उसे आगम से, अनुमान से, युक्ति से जानते हैं। वे यह भी स्पष्ट जानते हैं कि किस द्रव्य की कौनसी पर्याय कब और कौनसी विधि से व किस निमित्तपूर्वक कैसी होगी और हम मात्र यह जानते हैं कि प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय का द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव व निमित्त सब-कुछ निश्चित है, पर यह नही जानते कि किसका, कब, क्या, कैसे होगा ?

'भविष्य की पर्यायें भी क्रमबद्ध ही होती हैं' - यह ज्ञान होने पर भी यदि हमे यह ज्ञान नही है कि किसके बाद कौनसी पर्याय होगी - तो इससे वे अक्रमबद्ध कैसे हो जावेगी, जिससे हम यह कह सकें कि हमारे ज्ञानानुसार पर्याये अक्रमबद्ध होती हैं।

इससे तो हमारी अज्ञानता ही सिद्ध होती है, पर्यायो की अक्रमबद्धता नही। हमे अपने अज्ञान को पर्यायों पर थोपने का क्या अधिकार है ?

जरा विचार तो करो ? रविवार आदि सात वारो का एक क्रम निश्चित है। कुछ व्यक्तियो को उनके क्रम का ज्ञान है, वे अच्छी तरह जानते हैं कि किस वार के बाद कौनसा वार आता है और यह भी जानते हैं कि भविष्य मे भी इसी क्रम से ये वार आवेंगे, पर

कुछ लोगो को इस वात का ज्ञान नही है। तो क्या जिन लोगों को ज्ञान है, उनके ज्ञानानुसार वार क्रमवद्ध होगे और जिन्हे ज्ञान नही है, या गलत ज्ञान है उनके ज्ञानानुसार वे अक्रमवद्ध या अनिश्चित हो जावेगे।

मुझे विश्वास है – यह वात आपको भी स्वीकार न होगी, क्योकि उनके ज्ञान, अज्ञान या गलत ज्ञान का वारो पर क्या असर होने वाला है ? वे तो अपने निश्चित क्रमानुसार ही होगे; उसीप्रकार पर्यायो की क्रमवद्धतारूप वस्तुस्थिति को केवली के ज्ञान और क्षयोपशम ज्ञानवालो के ज्ञान या अज्ञान से क्या अन्तर पडता है, वे तो जैसी हैं वैसी ही रहेगी।

ज्ञान, अज्ञान, अल्पज्ञान पूर्णज्ञान, मिथ्याज्ञान, की स्थितियो से वस्तु की स्थिति का कोई सम्वन्ध नही है, इनसे उसमे कोई फरक नही पडता। वल्कि वस्तु की जो स्थिति है, उसके अनुसार ही ज्ञान जानता है – अर्थात् उसे जो सही जानता है, वह सही ज्ञान है; जो पूर्ण जानता है वह पूर्ण ज्ञान है; जो अपूर्ण जानता है वह अपूर्ण ज्ञान है; जो मिथ्या जानता है वह मिथ्याज्ञान है; और जो नही जानता है वह अज्ञान है।

अत यह कहना कि केवली के ज्ञान के अनुसार पर्यायें क्रमबद्ध होती हैं और हमारे ज्ञान के अनुसार अक्रमवद्ध; क्रमवद्धपर्याय का सही स्वरूप समझे विना ही 'मैं भी सही और तू भी सही' जैसी उभयाभासी वालचेष्टा है, अनेकान्त नही।

जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा मे सम्मिलित दोनो पक्षो के सभी दिग्गज विद्वानो ने एकमत से यह स्वीकार किया है कि प्रत्येक कार्य स्वकाल मे ही होता है। इस बात का उल्लेख जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा मे इसप्रकार मिलता है –

"१. अपर पक्ष द्वारा प्रत्येक कार्य का स्वकाल में होना स्वीकार

इसका प्रारम्भ करते हुए अपर पक्ष ने सर्वप्रथम हमारे द्वारा प्रथम और द्वितीय उत्तर मे उल्लिखित जिन पाँच आगमप्रमाणो के आधार से यह स्वीकार कर लिया है कि 'प्रत्येक कार्य स्वकाल मे ही होता है' इसकी हमे प्रसन्नता है। हमे विश्वास है कि समग्र जैन

परम्परा इसमे प्रसन्नता का अनुभव करेगी, क्योंकि 'प्रत्येक कार्य स्वकाल में ही होता है' यह तथ्य एक ऐसी वास्तविकता है, जो जैनधर्म और वस्तुव्यवस्था का प्राण है। इसे अस्वीकार करने पर न तो केवलज्ञान की सर्वज्ञता ही सिद्ध होती है और न ही वस्तुव्यवस्था के अनुरूप कार्य-कारण परम्परा ही सुघटित हो सकती है।

अपर पक्ष ने प्रतिशका ३ मे जिन शब्दो द्वारा स्वकाल मे कार्य का होना स्वीकार किया है, वे शब्द इसप्रकार हैं .—

'यह हम जानते है कि जिनेन्द्रदेव को केवलज्ञान के द्वारा प्रत्येक कार्य के उत्पन्न होने का समय मालूम है। कारण कि केवलज्ञान मे विश्व के सम्पूर्ण पदार्थों की त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायो का केवलज्ञानी जीवो को युगपत् ज्ञान कराने की सामर्थ्य जैन सस्कृति द्वारा स्वीकार की गई है। उसी आधार पर यह बात भी हम मानते हैं कि प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति उसी काल मे होती है, जिस काल मे है उसकी उस उत्पत्ति का होना केवलज्ञानी जीव के केवलज्ञान मे प्रतिभासित हो रहा है।'

२. केवलज्ञान ज्ञापक है कारक नहीं

साथ ही उक्त तथ्य की स्वीकृति के बाद अपर पक्ष की ओर से जो यह भाव व्यक्त किया गया है कि – 'परन्तु किसी भी कार्य की उत्पत्ति जिस काल मे होती है उस काल मे वह इस आधार पर नही होती है कि उस काल मे उस कार्य की उस उत्पत्ति का होना केवलज्ञानी के ज्ञान मे प्रतिभासित हो रहा है; क्योकि वस्तु की जिस काल मे जैसी अवस्था हो उस अवस्था को जानना मात्र केवलज्ञान का कार्य है, उस कार्य का होना केवलज्ञान का कार्य नही है।'

सो यह कथन भी आगम परम्परा के अनुरूप होने से स्वीकार करने योग्य है, किन्तु अपर पक्ष के इस कथन मे इतना हम और जोड देना चाहेगे कि – 'जिस प्रकार जिस काल मे जो कार्य होता है उसे केवलज्ञान यथावत् जानता है; उसी प्रकार उसकी कारक सामग्री को भी वह जानता है।'

केवलज्ञान किसी कार्य का कारक न होकर ज्ञापक मात्र है इसमे किसी को विवाद नही।''[1]

---

[1] जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा, प्रथम भाग, पृष्ठ २४६

इस उल्लेख से यह तो सिद्ध हो ही जाता है कि प्रत्येक कार्य स्वकाल मे ही होता है – यह एक सर्वमान्य तथ्य है।

अब रही बात अनेकान्त की। सो भाई! अनेकान्त वस्तु के स्वरूप मे सहज ही घटित होता है, उसे घटित करने के लिए वस्तु-स्वरूप को बलात् विकृत करने की आवश्यकता नही है।

'पर्यायें क्रमबद्ध ही होती है, अक्रम नही; और गुण अक्रम ही होते है क्रम से नही।' – यह विधि निषेधपरक सम्यक् अनेकान्त है। इसे ही और अधिक स्पष्ट करे तो गुणो की अपेक्षा द्रव्य अक्रम (युगपद्) है और पर्यायो की अपेक्षा क्रमबद्ध।

इसप्रकार गुण-पर्यायात्मक वस्तु मे क्रम-अक्रम सबधी अनेकान्त घटित होता है।

जैसा कि आत्मख्याति मे आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं –

"क्रमाक्रमप्रवृत्तविचित्रभावस्वभावत्वादुत्सगितगुणपर्याय ।[1]

और वह समय (आत्मा अथवा कोई भी द्रव्य) क्रमरूप (पर्याय) और अक्रमरूप (गुण) प्रवर्तमान अनेक भाव जिसका स्वभाव होने से जिसने गुण-पर्यायो को अगीकार किया है – ऐसा है।"

यहा पर वस्तु को गुण-पर्यायात्मक कहा है तथा गुणो का स्वभाव अक्रम व पर्यायो का स्वभाव क्रमवर्ती कहा है।

यदि पर्यायो मे ही क्रम-अक्रम घटित करना अभीष्ट हो तो वह अपेक्षा दूसरी होगी।

प्रत्येक द्रव्य मे अनन्त गुण है और प्रत्येक गुण की प्रति समय एक पर्याय होती है; इस अपेक्षा प्रत्येक द्रव्य मे एक समय मे ही अक्रम अर्थात् एक साथ अनन्त पर्यायें हो जाती है। तथा एक गुण की अनन्त समयो मे अनन्त पर्याये होती हैं, वे क्रमश. एक-एक समय मे एक-एक ही होती हैं।

इसप्रकार पर्यायो को भी क्रम-अक्रम कहा जा सकता है। पर ध्यान रहे इस अपेक्षा क्रम-अक्रम मान लेने पर भी 'क्रमबद्धपर्याय' मे वर्णित पर्यायो की क्रमनियमितता पर कोई प्रभाव नही पडता।

---

[1] समयसार गाथा २ की टीका

इसप्रकार का कथन तत्त्वार्थराजवार्तिक मे आता है, जो कि इसप्रकार है :—

"स च पर्यायो युगपद्‌वृत्त: क्रमवृत्तो वा। सहवृत्तो जीवस्य पर्याय. अविरोधात् सहावस्थायी सहवृत्ते गतीन्द्रियकाययोगवेदकषाय-ज्ञानसंयमादि: । क्रमवर्ती तु क्रोधादि देवादि-वाल्याद्यवस्था-लक्षण: ।[1]

और वह पर्याय युगपत् भी होती है और क्रमवर्ती भी होती है। अविरोध से एक साथ होने वाली जीव की पर्याय एक साथ होने के कारण गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान और सयम आदि सहावस्थायी पर्याय है तथा क्रोधादि, देवादि और वाल्यादि अवस्था-लक्षण क्रमवर्ती पर्याय है।"

'क्रम' और 'अक्रम' शब्दो के अर्थ दो प्रकार से किये जाते हैं। प्रथम तो यह कि क्रम माने क्रमश. अर्थात् एक के वाद एक, और अक्रम माने युगपद् अर्थात् एक साथ। दूसरा यह – क्रम माने एक के वाद एक और वह भी निश्चित एकदम व्यवस्थित तथा इसरूप मे कि 'इसके वाद यही, अन्य नही'। अक्रम माने अव्यवस्थित, कुछ भी निश्चित नही, चाहे जिसके वाद चाहे जो।

उक्त दोनो अर्थों मे प्रथम अर्थ के अनुसार ही पर्यायो मे क्रम-अक्रम दोनों अपेक्षाएं घटित होती हैं, जबकि प्रस्तुत अनुशीलन मे द्वितीय अर्थ की अपेक्षा क्रमबद्धपर्याय का अनुशीलन किया गया है, तदनुसार पर्यायें एक निश्चित क्रमानुसार ही होती है, अक्रम से नही– ऐसा सम्यक् एकान्त फलित होता है, जो कि स्याद्वादी जैनदर्शन को अभीष्ट ही है।

सम्यक् और मिथ्या के भेद से एकान्त भी दो प्रकार का होता है और अनेकान्त भी दो प्रकार का, जिसकी चर्चा 'क्रमबद्धपर्याय एक अनुशीलन' मे विस्तार से कर आये हैं। यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि जैनदर्शन सम्यक् एकान्तवादी और सम्यक् अनेकान्तवादी दर्शन है।

सम्यक् अनेकान्त द्रव्य पर्यायात्मक वस्तु पर घटित होता है और सम्यक् एकान्त द्रव्य पर्यायात्मक वस्तु के एक अश अर्थात् द्रव्य या पर्याय पर घटित होता है।

---

[1] तत्त्वार्थवार्तिक, अध्याय ४, सूत्र ४२, पृष्ठ २५६

यहाँ चूंकि पर्याय की चर्चा है, अत उसपर सम्यक् एकान्त ही घटित होता है। पर्यायें क्रमबद्ध ही होती हैं, यह सम्यक् एकान्त है और गुण अक्रमबद्ध (युगपद्) ही होते हैं – यह भी सम्यक् एकान्त है।

गुण और पर्याय – दोनो वस्तु (द्रव्य) के अश है और वस्तु अर्थात् द्रव्य अशी है। नयरूप सम्यक् एकान्त अंशग्राही होता है और प्रमाणरूप सम्यक् अनेकान्त अशीग्राही अर्थात् वस्तुग्राही होता है। गुण और पर्याय वस्तु के अश हैं, अत वे सम्यक् एकान्तस्वरूप हैं और गुण-पर्यायात्मक वस्तु अशी होने से अनेकान्तस्वरूप है।

अक्रमवर्ती गुण और क्रमवर्ती पर्याय – इसप्रकार गुण-पर्यायात्मक वस्तु मे अनेकान्त घटित होता है।

वैसे तो एक अपेक्षा हम ऊपर पर्यायो मे भी क्रमाक्रम घटित कर आये हैं और यह भी बता आये हैं कि अकलकदेव ने ऐसा प्रयोग किया है, फिर भी यदि आप इसी अपेक्षा अकेली पर्याय मे क्रमाक्रम घटाने का हठ करेगे तो फिर हम आपसे यह भी कह सकते हैं कि अकेली पर्याय मे आप नित्यानित्यात्मक अनेकान्त भी घटाइये अथवा अकेले पर्याय रहित द्रव्य मे ही नित्यानित्यात्मक अनेकान्त घटाकर बता दीजिए।

आखिर नित्यानित्यात्मक अनेकान्त भी तो गुण-पर्यायात्मक वस्तु मे ही घटित होता है, अकेली पर्याय मे नही, अकेले द्रव्य मे भी नही।

जैसे – वस्तु द्रव्यदृष्टि से नित्य है और पर्यायदृष्टि से अनित्य। क्या पर्याय रहित अकेले द्रव्य मे या अकेली पर्याय मे नित्यानित्यात्मकता घट सकती है? नही, तो फिर क्रमाक्रम को भी अकेले द्रव्य या अकेली पर्याय मे घटित करने का हठ क्यो? क्रमाक्रम का अनेकान्त भी गुण-पर्यायात्मक वस्तु मे ही घटित होगा।

अनेकान्त का सही स्वरूप समझे बिना चाहे जहाँ उल्टा-सीधा अनेकान्त लगा देना अच्छी बात नही है। अनेकान्त को घटित करने के पहिले उसका सही स्वरूप समझ लेना चाहिए।[1]

---

[1] अनेकान्त की विस्तृत जानकारी के लिए लेखक का अन्य कृति 'अनेकान्त और स्याद्वाद' देखिये।

(१४) **प्रश्न :–** अकालमृत्यु के सन्दर्भ मे आपने ही तो घड़े के पानी और अपराधी के जेल से छूटने आदि का उदाहरण देकर यह बताया था कि केवली के ज्ञान के अनुसार तो मरणादि कार्य स्वकाल मे ही होते हैं किन्तु ज्योतिष आदि क्षयोपशम ज्ञान के अनुसार जो भी मरणादि संबधी भविष्य बताया जाता है उसमें आयु के अपकर्षण आदि के द्वारा फेर-फार भी हो जाता है ।

इस से तो यह प्रतीत होता है कि केवली के ज्ञानानुसार पर्यायें क्रमबद्ध और हमारे ज्ञानानुसार अक्रमबद्ध होती हैं ?

उत्तर :– उक्त उदाहरणों से तो यह सिद्ध किया गया था कि मरणादि प्रत्येक कार्य (पर्याय) होता तो स्वकाल मे ही है, पर उसका कथन दो प्रकार से होता है; यह नहीं बताया था कि कुछ पर्यायें स्वकाल मे होती है और कुछ अकाल में भी हो जाती हैं ।

आयुकर्म की स्थिति के अपकर्षणादि के बिना आयुकर्म की स्थिति पूर्ण होने के उपरान्त होने वाले मरण को कालमरण और आयुकर्म की स्थिति का अपकर्षणादि से होने वाले मरण को अकाल मरण कहा जाता है ।

अकालमरण का आशय स्वकाल के बिना होने वाले मरण से नही है, अपितु आयुकर्म के अपकर्षणादि से है । आयु के अपकर्षणादि के कारण अकालमरण उसकी संज्ञामात्र है । वास्तव मे तो प्रत्येक कार्य स्वकाल मे ही होता है ।

मोक्ष एवं सम्यक्त्वरूपी कार्य के संबंध मे कलश टीकाकार पाण्डे राजमलजी लिखते है –

"यह जीव इतना काल बीतने पर मोक्ष जायेगा – ऐसी नोंध केवलज्ञान मे है । ··· यद्यपि सम्यक्त्वरूप जीवद्रव्य परिणमता है तथापि काललब्धि के बिना करोड उपाय किये जाय तो भी जीव सम्यक्त्वरूप परिणमन योग्य नही ।[1]"

कोई भी घटना नवीन घटित नही होती, अपितु वह पहिले से ही स्थित है, निश्चित है, वह तो मात्र स्वकाल में प्रगट होती है ।

---

[1] समयसार कलश ४ की टीका का भावार्थ

इसप्रकार का भाव सापेक्षवाद के प्रबल प्रचारक प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्सटीन (Einstein) ने भी व्यक्त किया है। जो कि इसप्रकार है :–

"Events do not happen, they already exist and are seen on the time-machine"

घटनाएँ घटती नही है, वे पहले से ही विद्यमान हैं, तथा काल-चक्र पर देखी जाती हैं।"

(१५) प्रश्न – शास्त्रो मे एक अकालनय भी तो आता है? कालनय से कार्य स्वकाल मे होता है और अकालनय से अकाल मे भी हो जाता है – ऐसा माने तो क्या आपत्ति है?

उत्तर – अकालनय का अर्थ यह नही कि कार्य स्वसमय मे न होकर असमय मे हो जाता है। कार्य तो पाचो समवायो के मिलने पर ही होता है, पर जब एक कारण को मुख्य करके कथन होता है तब अन्य कारण गौण रहते है, उनका अभाव नही होता।

जैसे – निसर्गज सम्यग्दर्शन भी देशनालब्धि बिना नही होता और अधिगमज सम्यग्दर्शन भी स्वभाव के आश्रय से ही होता है, फिर भी जिसमे उपदेश की मुख्यता होती है उसे अधिगमज और जिसमे उपदेश का प्रसग प्रत्यक्ष दिखाई नही देता उसे निसर्गज सम्यग्दर्शन कहा जाता है।

उसीप्रकार जिस कार्य की उत्पत्ति मे काल को छोडकर पुरुषार्थादि अन्य समवाय प्रमुख दिखाई देते हैं, उसे अकालनय का विषय कहते है तथा जिसमे काल की प्रमुखता दिखाई देती है, उसे कालनय का विषय कहा जाता है। इसी को इसप्रकार व्यक्त किया जाता है कि कालनय से स्वकाल मे कार्य होता है और अकालनय से अकाल मे।

इस कथन का तात्पर्य यह कदापि नही कि कार्य समय के पहले हो गया।

(१६) प्रश्न :– प्रवचनसार मे जहाँ कालनय और अकालनय का कथन है, वहा तो आम का उदाहरण देकर साफ-साफ लिखा है –

"कालनय से आत्मद्रव्य की सिद्धि समय पर आधार रखती है, गर्मी के दिनो के अनुसार पकने वाले आम की भाति और अकालनय

से आत्मद्रव्य की सिद्धि समय पर आधार नही रखती है, कृत्रिम गर्मी से पकाये गए आम्रफल की भांति।"[1]

उत्तर :– लिखा तो साफ-साफ ही है, पर उसका अर्थ क्या है ? यह भी विचार किया या नही ? कृत्रिम गर्मी से पकाया गया आम समय के पहले पक गया – यह बात कहाँ से आई ? क्या तुम्हे यह पता था कि वह कब पकने वाला था ? हो सकता है कि उसके पकने का काल वही हो, जबकि वह पका है; और उसके पकने का निमित्त भी कृत्रिम गर्मी ही हो। इसकी जानकारी बिना कि उसे कब और कैसे पकना है, आप कैसे कह सकते हैं कि वह समय के पूर्व पक गया है ?

प्रत्येक कार्य के होने का काल ही नही, निमित्तादि सभी समवाय निश्चित हैं, और सबके मिलने पर ही कार्य होता है। तथा जब कार्य होना होता है या जो कार्य होना होता है तब वे सभी कारण (समवाय) मिलते ही मिलते हैं। ऐसा नही होता कि कभी कोई मिले और कभी कोई। सभी के एक साथ मिलने के कारण ही उन्हे समवाय कहा जाता है।

डाल पर लगे आम के पकने मे कृत्रिम गर्मी आदि देने का पुरुष का प्रयत्नादि नही दिखाई दिया, अत यद्यपि उसे कालनय को मुख्य करके काललब्धि आने पर स्वय पका कहा गया; तथापि उसमे ऋतुकृत गर्मी का निमित्त भी था ही। पाल में पकाये गये आम मे कृत्रिम गर्मी दिये जाने रूप पुरुष का प्रयत्न देखा गया, अत काल को गौण कर अन्य समवाय जैसे पुरुष का प्रयत्नरूप पुरुषार्थ, कृत्रिम गर्मी का निमित्त आदि एकाधिक समवाय की मुख्यता से उसे अकालनय की अपेक्षा अकाल अर्थात् काल से भिन्न अन्य कारणो से पका कहा गया।

यहाँ अकाल का अर्थ असमय या समय के पूर्व नही है, अपितु काललब्धि के अतिरिक्त अन्य पुरुषार्थादि समवायो का समुदाय है।

---

[1] कालनयेन निदाघदिवसानुसारिपच्यमानसहकारफलवत्समयायत्तसिद्धि ।
अकालनयेन　　कृत्रिमोष्मपाच्यमानसहकारफलवत्समयानायत्तसिद्धि ॥
– प्रवचनसार, परिशिष्ट, पृष्ठ ५२७–२८

काल का अर्थ भी समय मात्र नही है, अपितु काललब्धि नामक एक समवाय है। काल को छोड़कर शेष चार समवायो को एक नाम से कहना था तो अकाल के सिवाय और क्या कहा जा सकता था ?

जैसे – जीव से भिन्न पाच द्रव्यो को अजीव कहा जाता है; उसी प्रकार यहाँ काल (काललब्धि) से भिन्न चार समवायो को अकाल कहा गया है। अत: 'कालनय से' का अर्थ है – काललब्धि की अपेक्षा कथन करने पर और 'अकालनय से' का अर्थ है – काललब्धि को छोड कर अन्य पुरुषार्थादि समवायो की अपेक्षा कथन करने पर।

बात थोड़ी सूक्ष्म है, पर समझने योग्य है। इसे समझे बिना इसके रहस्य को समझ पाना सभव नही है। सूक्ष्म अवश्य है, पर समझ मे न आवे – ऐसी नही। अत. यदि उपयोग को सूक्ष्म कर श्रद्धापूर्वक समझने का प्रयत्न किया जाए, तो समझ मे आ सकती है।

कालनय और अकालनय का 'क्रमबद्धपर्याय' से कोई विरोध नही है, अपितु ये नय क्रमबद्धपर्याय के साधक ही हैं।

इस सन्दर्भ मे 'जयपुर (खानियाँ) तत्त्वचर्चा' का निम्नलिखित कथन भी द्रष्टव्य है –

"विचार कर देखा जाय तो कालनय मे काल की विवक्षा है और अकालनय मे काल को गौणकर अन्य हेतुओ की विवक्षा है।

जहाँ अन्य हेतुओं को गौणकर काल की प्रधानता से कार्य को है, वहाँ वह कालनय का विषय होता है और अन्य विवक्षा या प्रयोग से प्राप्त हेतुओ को दृष्टिपथ मे लिया जाता है, वहाँ वह अकालनय

सभी कार्य क्रमनियत होकर भी वे विवक्षाभेद से काल और अकाल – इन दोनो नयो के विषय हैं।"[1]

(१७) **प्रश्न** :– इसप्रकार के प्रयोग लोक मे तो प्रचलित नही हैं ?

उत्तर :– क्यो नही हैं ? काल के अतिरिक्त अन्य समवाय को अकाल कहने जैसे प्रयोग जिनवाणी मे तो मिलते ही हैं, जैसा कि जीव-अजीव वाले उदाहरण से स्पष्ट है, लोक मे भी ऐसे प्रयोग प्रचलित है। 'अजैन' शब्द भी हम जैन धर्मावलम्बियो को छोड़ कर अन्य धर्मवालो के लिए प्रयोग करते ही हैं। अजैन मे हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि सभी आजाते हैं। जब हम यह कहते हैं कि वह अजैन है तो उसका अर्थ हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि कुछ भी हो सकता है।

जब हम यह कहेगे कि यह काम अजैनो के सहयोग से सम्पन्न हुआ तो हमारे आशय मे जैनो को छोड़कर अन्य अनेक सम्प्रदाय वाले ही अपेक्षित होते हैं। जब हमे इसमे कही कोई शंका नही होती तब अकाल का अर्थ काल के अतिरिक्त बाकी समवाय करने पर भी आपत्ति क्यो ?

अकाल का यह अर्थ आज तक हमारे ध्यान मे नही आया तो इसका अर्थ यह तो नही कि उसका यह अर्थ अनुचित है। हमारे ध्यान मे तो बहुत सी बातें नही हैं, तो क्या वे मात्र इसलिए गलत हैं कि हमारे ज्ञान मे नही हैं। वस्तु की व्यवस्था क्या आपके तुच्छ क्षयोपशम ज्ञान के आधार पर सचालित है ?

क्या यह बात विचारणीय नही है ? यदि है, तो फिर एक बार गभीरता से विचार कीजिए। विचार करने पर सब कुछ स्पष्ट हो जावेगा।

(१८) **प्रश्न** :– "सभी-कुछ निश्चित है, उसमे कही भी कोई फेर-फार नही किया जा सकता" – ऐसा मान लेने पर समागत या सभावित विपत्ति का पता चलते ही समस्त जगत मे भय का वातावरण फैल जायगा, क्योकि 'सभी-कुछ निश्चित' के अनुसार उसे रोकने का प्रयत्न सभव नही है।

---

[1] जयपुर (खानियाँ) तत्त्वचर्चा, पुस्तक १, पृष्ठ ३५१–५२

यद्यपि 'सब-कुछ निश्चित' नही मानने पर भले ही हमारा किया गया कोई प्रयत्न सफल न हो तथापि सफलता की सभावना से आशा तो बनी रहती है, निराशा का वातावरण तो नही बन पाता ।

कहावत है कि 'आशा से आसमान लगा है ।' तात्पर्य यह है कि सारा ससार आशा से ही चल रहा है, यदि आशा न रहे तो ससार मे रहना भी दूभर हो जायगा और कार्य की सफलता के लिए किए जाने वाले प्रयत्नो के प्रति उत्साह भी नही रहेगा ।

एक चिडिया एक-एक तिनका जोडकर अथक् परिश्रम करके एक घोसला बनाती है और उसके नष्ट हो जाने पर या नष्ट कर दिए जाने पर फिर उसी प्रयत्न मे जुट जाती है । इसका एकमात्र आधार आशा ही तो रहती है, निराश व्यक्ति तो जीवन मे कुछ भी नही कर सकता; क्योकि उसका तो मनोबल ही टूट जाता है ।

मनोबल टूटा, फिर तो सब-कुछ समाप्त ही समझो; क्योकि कहा है न कि 'मन के हारे हार है और मन के जीते जीत ।'

इसलिए चाहे पर्यायें क्रमबद्ध ही क्यो न होती हो, फिर भी निराशा का वातावरण न बने एव हमारे हृदयो मे आशा का सचार बना रहे — इसके लिए 'क्रमबद्धपर्याय' का सिद्धान्त स्वीकार न करना ही श्रेयस्कर है ?

उत्तर :– वस्तुस्वरूप की सच्ची समझ से भय का वातावरण कैसे बन सकता है ? भय का वातावरण तो अज्ञान और कषाय से बनता है, भय स्वयं एक कषाय है, पच्चीस कषायो मे उसका भी नाम आता है ।

आध्यात्मिक कवि बुधजनजी तो कहते हैं :-

हमको कछु भय ना रे, जान लियो ससार ।।
जाकरि जैसे जाहि समय मे, जो होतब जा द्वार ।
सो बनि है टरिहै कछु नाही, करि लीनो निरधार ।।
हमको कछु भय ना रे० ।।३।।

यहाँ पर बुधजनजी अपनी निर्भयता का आधार तो 'क्रमबद्ध-पर्याय' को बता रहे हैं । वे स्पष्ट कह रहे है कि हमे कोई भय नही रहा है, क्योकि हमने ससार की सही स्थिति को जान लिया है ।

वह सही स्थिति क्या है, जिसे जानकर बुधजनजी निर्भय हो गये है।

यही कि जिस द्रव्य की जो पर्याय, जिस समय मे, जिसके द्वारा, जैसी होनी है; उसी द्रव्य की, वही पर्याय, उसी समय मे, उसी के द्वारा, वैसी ही होगी। उसमें कोई फेर-फार संभव नहीं है, उसमे एक समय भी आगे-पीछे नहीं हो सकता है – यह निरधार (पक्का निर्णय) उन्होने कर लिया है और इसी के आधार पर वे निर्भय हो गये हैं।

वे सत्य के आधार पर निर्भय हुए हैं; इस कल्पना के आधार पर नही कि प्रयत्न करके देखो शायद कुछ फेर-फार हो जाय। वे कल्पना लोक में विचरण करने वाले सामान्यजन नही थे, वे तो वस्तु का सत्य स्वरूप समझकर निर्भय होने वाले ज्ञानी आत्मा थे। और वस्तु स्थिति भी यही है कि निर्भयता सत्य के आधार पर आती है, कल्पना के आधार पर नही।

मानलो कि ज्ञानी और अज्ञानी कही एक साथ बैठे हैं। सामने खूखार नरभक्षी शेर आ गया। अब न तो भागने का ही अवसर रहा और न कोई अन्य उपाय ही उससे बचने का दिखाई देता है। इस अवसर पर ज्ञानी तो उक्त सिद्धान्त के आधार पर धैर्य धारण कर निर्भय रहेगा और अज्ञानी भयाक्रान्त हो जावेगा, यद्वा-तद्वा कुछ भी करने का असफल प्रयत्न करेगा, पर उससे कुछ होने वाला तो है नही, होगा तो वही जो होना है।

हो सकता है दोनो ही भगवान का स्मरण करने लगे णमोकार मन्त्र पढने लगे, दोनो ही निर्भय दिखाई दे। देखने वालो को दोनो एक से ही दिखाई देंगे; जबकि उन दोनों के भावो मे महान अन्तर है। वह अन्तर ऊपर से दिखाई नही देगा; क्योकि वह उनके अन्तर का अन्तर है; दोनो के चिन्तन के आधार का अन्तर है। दोनो की निर्भयता का आधार अलग-अलग है।

अज्ञानी सोचता है – मैं णमोकारमन्त्र पढ रहा हूँ, भगवान का स्मरण कर रहा हूँ – इसके प्रभाव से अभी देवता आवेंगे और मुझे बचा लेंगे, क्योकि उसने शास्त्रो मे ऐसी कई कथाएँ पढ रखी हैं; जिनमे ऐसा लिखा था कि कोई धर्मात्मा सकट मे था, उसने णमोकार

मत्र का स्मरण किया और देवताओ ने उसकी रक्षा कर ली। उसी के आधार पर वह भी आशा लगाये बैठा है, जोर-जोर से णमोकार मन्त्र पढ रहा है, ऊपर से निर्भय दिखाई देता है, पर अन्दर से भयाक्रान्त है, क्योकि उसे यह भी तो पक्का विश्वास नही है कि देवता आवेगे ही। यदि नही आये तो ·· ···यह कल्पना ही उसे आन्दोलित किए है। यदि कोई दूसरा उपाय दिखाई देता तो वह निश्चितरूप से णमोकारमन्त्र के भरोसे नही बैठा रहता, जान जोखिम मे नही डालता। उसे णमोकारमन्त्र पर भी पक्का भरोसा नही है, उस पर विश्वास करना उसकी मजबूरी है, इसीलिए निर्भय नही रह पा रहा है।

णमोकारमन्त्र पढने से कभी किसी धर्मात्मा की रक्षा करने देवता आ गये थे – यह पौराणिक आख्यान सत्य हो सकता है, इसमे शका करने की कोई आवश्यकता नही है, पर इससे यह नियम कहाँ से सिद्ध होता है कि जब-जब कोई सकट मे पडेगा और वह णमोकार मन्त्र बोलेगा; तब-तब देवता आवेगे ही, अतिशय होगा ही।

शास्त्रो मे तो मात्र जो घटा था, उस घटना का उल्लेख है। उसमे यह कहाँ लिखा है – ऐसा करने से ऐसा होता ही है, यह तो इसने अपनी ओर से समझ लिया है, अपनी इस समझ पर भी इसको विश्वास कहाँ है ? होता तो आकुलित क्यो होता, भयाक्रान्त क्यो होता ?

ज्ञानी भी णमोकारमन्त्र पढ रहा है, शान्त भी है, पर उसकी शान्ति का आधार णमोकारमन्त्र पर यह भरोसा नही कि हमे बचाने कोई देवता आवेंगे। णमोकारमन्त्र तो वह सहज अशुभ भाव से तथा आकुलता से बचने के लिए बोलता है। उसकी निर्भयता का आधार तो 'क्रमबद्धपर्याय' की पोषक यही पक्तियाँ हैं कि –

हमकौं कछु भय ना रे · ············ ।

वह इस आशा मे निर्भर नही है कि देवता बचा लेगे इस आधार पर निर्भय है कि मरना होगा तो मरूगा ही, कोई बचा नही सकता और नही मरना होगा तो कोई मार नही सकता। मरने का समय आ गया होगा तो कोई टाल नही सकता और नही आया होगा तो बलात् कोई ला नही सकता। यदि इसी निमित्त से मरना होगा

तो कोई बदल नही सकता और इस निमित्त से नही मरना होगा तो कोई मार नही सकता ।

उसने तो द्रव्यस्वभाव के समान पर्यायस्वभाव को भी अच्छी तरह जान लिया है । 'जान लियो ससार' का यही भाव है । उसी के आधार पर वह निश्चिन्त है ।

न उसे द्रव्यस्वभाव मे परिवर्तन की कोई इच्छा है और न पर्यायों के परिवर्तन मे दखल करने का कोई आग्रह है । थोडी-बहुत व्याकुलता भी दिखाई दे, तो समझना चाहिये कि यह चारित्र की कमजोरी है, श्रद्धान का दोष नही, क्योकि उसकी श्रद्धा तो निर्दोष द्रव्यस्वभाव का आश्रय लेकर पूर्ण निर्दोष हो गई है ।

दूसरे झूठी आशा बनाए रखने के लिए आप सत्य की अस्वीकृति का महानतम अपराध क्यो करना चाहते हो ? और आशा भी दु:ख ही है, आशा के रहते आज तक न कोई सुखी हुआ है और न हो ही सकता है । विशेष बात तो यह है कि इसकी पूर्ति भी तो सभव नहीं है ।

आचार्य गुणभद्र तो यहाँ तक लिखते हैं –

"आशागर्त. प्रतिप्राणि यस्मिन् विश्वमणूपमम् ।
कस्य किं कियदायाति वृथा वो विषयैषिता ।।३६।।

प्रत्येक प्राणी के इतना बडा आशारूपी गड्ढा है कि उसकी पूर्ति के लिए सारा विश्व भी अणु के समान है अर्थात् नही के समान है, ऊँट के मुँह मे जीरा है । फिर जीव भी तो अनत है और प्रत्येक की ऐसी ही इच्छाएँ हैं, आशाएँ है; यदि इस विश्व का बटवारा किया जाय तो किसके हिस्से मे कितना आयेगा । इसलिए आशारूपी गड्ढे की पूर्ति तो सम्भव है नही, उसकी आशा करना भी वृथा है । सुखी होने का एकमात्र उपाय आशा का अभाव करना ही है ।"[1]

आशा के अभाव मे निराशा क्यो, अनाशा होगी; आशा के समान निराशा भी दु खस्वरूप है, पर आशा के अभाव मे होने वाली अनाशा सुखस्वरूप है ।

तथा आपने यह कहा कि आशा के अभाव में ससार मे रहना दूभर हो जावेगा; तो ज्ञानी तो यही चाहते है कि ससार में रहना

[1] आत्मानुशासनम् श्लोक सख्या ३६

दूभर हो जावे । उन्हे ससार मे रहना ही कहाँ है ? वे तो ससार का अभाव कर मोक्ष प्राप्त करना चाहते है, अत उन्हे तो यह बात इष्ट ही है ।

ससार के कार्यो मे उत्साह नही रहेगा; तो यह भी अच्छा ही है । यह आत्मा ससार की ओर निरुत्साहित होकर मुक्ति के मार्ग मे उत्साहित हो, मुक्ति के मार्ग मे लगे – यही तो क्रमवद्धपर्याय की श्रद्धा का सच्चा फल है । यदि यह होता है तो क्या वरा होता है ?

मनोवल टूटता है तो टूट जाने दो, आत्मवल जगेगा । सासारिक कार्यों में लगे मनोवल के टूटे विना आत्मवल जागृत भी तो नही होता । ससार मे कोई गड़वड न हो जाए – इस भय से पर्यायो की क्रमनियमितता के सत्य को स्वीकार करने से इन्कार क्यो करते हो ?

भाई ! किसी भय या आशका से इस महान सत्य को स्वीकार करने से इन्कार न करो । चक्रवर्ती की कन्या का टीका आया है, चक्रवर्ती की सुन्दर कन्या तेरे गले मे वरमाला डालना चाहती है, इन्कार मत कर ! यह वड़े सौभाग्य का अवसर है, इसे मत चूक, अन्यथा पछताना होगा । सभी प्रकार की अशुभ आशकाओ से विराम ले और एक वार गम्भीरता से विचार करके इस महान सत्य को स्वीकार कर ले, इसमें हमारा कोई स्वार्थ नही है, तेरा ही भला है । तेरे भले के लिये ही यह वात कर रहे है ।

अभी इसप्रकार का भाव है, सो कह भी रहे हैं; यदि कल इस प्रकार का भाव भी न रहा तो न जाने फिर कोई कहने वाला मिलेगा भी या नही ।

(१६) **प्रश्न :**– जव सव-कुछ क्रमवद्ध ही है, तो आप व्यर्थ परेशान ही क्यों हो रहे है ? जव हमारी समझ मे आना होगा, आ जावेगा और यदि नही आना होगा, तो नही आवेगा; आप इतने अधीर क्यो हो रहे हं ? वलात् हमारे माथे इसे क्यो थोपना चाहते है ?

उत्तर :– 'हम क्यो परेशान हो रहे है, इतने अधीर क्यो हो रहे है ?' – आपका यह सवोधन भी ठीक ही है । हम आपके कारण नही, अपने राग के कारण अधीर हो रहे हैं । हम भी चाहते है कि हम भी जगत की चिन्ता से स्वयं ही अधीर न हों, पर हम क्या करे हमे यह राग आ हो जाता है, आये विना रहता नही है,

और इस भूमिका मे यह अनुचित भी नही है। वीतरागी भावलिंगी मुनिराजों को भी इसप्रकार का राग आये बिना नही रहता, अन्यथा परमागमो की रचना भी कैसे होती। लेकिन इसका अर्थ यह नही कि यह अच्छा है। आखिर है तो राग ही, है तो अधीरता और आकुलता का उत्पादक ही। उत्पादक क्या, स्वय आकुलतारूप ही है।

मुनिराजो के समान हमको भी यह राग आये बिना नही रहता कि जिस सत्य को हमने समझा है, जिससे हमे अनंत शान्ति मिली है उस सत्य को सारा जगत समझे और सम्पूर्ण जगत को भी यह अभूतपूर्व शान्ति प्राप्त हो।

(२०) **प्रश्न** :– आपकी भावना तो ठीक है, पर कोई न माने आपकी बात तो आप क्या करेंगे ?

उत्तर :– करेंगे क्या ? कुछ नही। हम 'पर' मे कर भी क्या सकते हैं ? पर्यायो मे फेर-फार करने की बुद्धि से आकुलित जगत को देखकर करुणा आती है। सो जो कुछ जानते हैं – बोलने लगते हैं, लिखने लगते हैं. जिनकी भली होनहार होती है, वे सुनते हैं, समझते हैं, स्वीकार भी करते हैं, सुखी भी होते हैं, शान्त भी होते हैं; और जो लोग नही सुनते, नही पढते, नहीं विचारते, नही स्वीकारते; उनकी होनहार ही ऐसी है – ऐसा जानकर हम भी सतोष धारण करते हैं।

यही रास्ता तो बताया है. हमारे श्रद्धास्पद महापण्डित टोडरमलजी ने। उन्ही के शब्दो मे –

"जिसप्रकार बडे दरिद्री को अवलोकनमात्र चिन्तामणि की प्राप्ति हो और वह अवलोकन न करे, तथा जैसे कोढी को अमृत-पान कराये और वह न करे, उसीप्रकार ससार पीडित जीव को सुगम मोक्षमार्ग के उपदेश का निमित्त बने और वह अभ्यास न करे तो उसके अभाग्य की महिमा हमसे तो हो नही सकती, उसकी होनहार ही का विचार करने पर अपने को समता आती है।"[१]

स्वभावदृष्टि से प्राप्त होने वाले इस पर्यायगत महान सत्य को जानकर, मानकर सभी आत्माएँ अनन्तसुखी और शान्त हो – इस पवित्र भावना के साथ विराम लेता हूँ।

---

[१] मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २०

परिशिष्ट १

क्रमबद्धपर्याय :
एक इन्टरव्यू पू० कानजी स्वामी से

आज के बहुचर्चित विषय 'क्रमबद्धपर्याय' के सबध मे विक्रम की इक्कीसवी शती मे क्रमबद्ध की चर्चा आरभ करने वाले पू० श्री कानजी स्वामी से उनकी ही जन्म-जयन्ती के अवसर पर दि० २८-४-७६ को बम्बई मे सायकालीन तत्त्वचर्चा के समय हजारो मुमुक्षु बन्धुओ के बीच सपादक आत्मधर्म (इस पुस्तक के लेखक) द्वारा लिया गया इन्टरव्यू यहाँ प्रस्तुत है।

'क्रमबद्धपर्याय' पर हुए स्वामीजी के प्रवचन यद्यपि 'ज्ञेयस्वभाव-ज्ञानस्वभाव' नाम से प्रकाशित हो चुके है, तथापि उनके ताजे विचार समाज को प्राप्त हो – यही उद्देश्य रहा है इस इन्टरव्यू का।

"धर्म का मूल सर्वज्ञ है, क्रमबद्धपर्याय का निर्णय हुए बिना सर्वज्ञ का निर्णय नही हो सकता। धर्म का आरभ ही क्रमबद्ध के निर्णय से होता है। इसका निर्णय करना बहुत जरूरी है।"

उक्त शब्द पू० कानजी स्वामी ने तब कहे जब उनसे कहा गया कि "आत्मधर्म के सम्पादकीय मे 'क्रमबद्धपर्याय' के सम्बन्ध मे हम एक लेखमाला चला रहे हैं, उसे बाद मे पुस्तकाकार भी प्रकाशित किया जायेगा। आपने इस युग मे 'क्रमबद्धपर्याय' का एक प्रकार से उद्घाटन ही किया है। इसके सन्दर्भ मे उठने वाली अनेक शकाओ-आशकाओ के सम्बन्ध मे आपके ताजे विचार पाठको तक पहुँचाना बहुत उपयोगी रहेगा। यदि आपकी अनुमति हो तो कुछ बातें आपसे पूछूँ ?"

वे अपनी बात आरंभ करते हुए बोले – "भाई ! तुम्हे जो पूछना हो पूछो, हम कब मना करते हैं ? समझने के लिए जिज्ञासा भाव से पूछने वाले आत्मार्थियो के लिये तो हमारा दरवाजा सदा ही खुला रहता है । वाद-विवाद करने वालो के लिये हमारे पास समय नही है । वाद-विवाद में कोई सार तो निकलता नही । चर्चा के लिए तो कोई मनाई नही है ।

पडित टोडरमलजी ने रहस्यपूर्ण चिट्ठी मे लिखा है कि – 'साधर्मी के तो परस्पर चर्चा ही चाहिए ।'

क्रमबद्धपर्याय पर लिखकर तुम अच्छा ही कर रहे हो । कम से कम लोगो का ध्यान तो इस ओर जाएगा । जिसकी भली होनहार होगी, उनके ध्यान मे बात जमेगी भी । 'धर्म का मूल सर्वज्ञ है', क्रमबद्ध का निर्णय हुए बिना सर्वज्ञ का निर्णय नही हो सकता । धर्म का आरभ ही क्रमबद्धपर्याय के निर्णय से होता है । इसका निर्णय करना बहुत जरूरी है ।"

प्रश्न :– "आप तो पर्याय पर दृष्टि रखने वाले को पर्यायमूढ कहते हो ?"

उत्तर :– "हम क्या कहते हैं, प्रवचनसार (गाथा ९३) मे लिखा है–

'पज्जयमूढा हि परसमया'

प्रश्न :– 'क्रमबद्धपर्याय भी तो एक पर्याय है फिर उसका निर्णय करना क्यो आवश्यक है ?"

उत्तर :– "निर्णय तो करो, आश्रय मत करो। हम आश्रय करने का निषेध करते हैं, तो तुम निर्णय करने का निषेध करने लगते हो? हम तो यह कहते हैं कि ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से क्रमबद्ध का निर्णय होगा। अत क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करने के लिए ज्ञायक-स्वभाव का आश्रय करो। ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से क्रमबद्ध का निर्णय सहज हो जाएगा। क्रमबद्ध के निर्णय करने की जरूरत तो है ही, आश्रय करने की जरूरत नही।

क्रमबद्ध का निर्णय तो महापुरुषार्थ का कार्य है। उससे सारी दृष्टि ही पलट जाती है। यह कोई साधारण बात नही है। यह तो जैनदर्शन का मर्म है।"

प्रश्न :– "जब सब-कुछ क्रमबद्ध ही है तो फिर जब हमारी क्रमबद्धपर्याय मे क्रमबद्ध का निर्णय होना होगा तब हो जाएगा। उसके पहिले क्रमबद्धपर्याय हमारी समझ मे भी कैसे आ सकती है? मान लो हमारी समझ मे क्रमबद्ध आने मे अनन्त भव बाकी हैं – तो अभी कैसे आ सकती है?"

उत्तर :– "यह बात किसके आश्रय से कहते हो? क्या तुम्हे क्रमबद्ध का निर्णय हो गया है? नही, तो फिर यह कहने का तुम्हे क्या अधिकार है? जिसे क्रमबद्ध का निर्णय हो जाता है, उसे ऐसा प्रश्न ही नही उठता है। क्रमबद्ध की श्रद्धा वाले के अनन्त भव ही नही होते। क्रमबद्ध की श्रद्धा तो भव का अभाव करने वाली है। जिसके अनन्त भव बाकी हो उसकी समझ मे क्रमबद्ध आ ही नही सकती; क्योकि उसकी दृष्टि ज्ञायक के सन्मुख नही होती और ज्ञायक के सन्मुख दृष्टि हुए बिना क्रमबद्धपर्याय समझ मे नही आती है।

ज्ञायक के सन्मुख होकर जहाँ क्रमबद्ध का निर्णय किया वहाँ भव उड जाते हैं। क्रमबद्धपर्याय का निर्णय होने पर निर्मल-पर्याय मेरा कर्म और मैं उसका कर्त्ता – यह बात भी नही रहती। पर्याय स्वसमय पर होगी ही – ऐसी श्रद्धा होने से उसे करने की कोई व्याकुलता नही रहती। मुझे भव नही – इसप्रकार की निःशकता प्रकट हो जाती है।

क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा में कर्त्तापन की बुद्धि उड़ जाती है और ज्ञातापन की बुद्धि प्रकट हो जाती है – यह उसका फल है। यदि कर्त्ताबुद्धि न उड़े तो समझना चाहिए कि अभी उसकी समझ मे क्रमबद्धपर्याय आई नही है।"

प्रश्न :– "अभी आपने फरमाया कि क्रमबद्धपर्याय का निर्णय पर्याय पर दृष्टि रखने से नही होगा, त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव पर दृष्टि रखने से होगा तो फिर क्रमबद्धपर्याय के निर्णय की जरूरत ही क्या है ? बस हम तो ज्ञायकस्वभाव का आश्रय ले ले न ?"

उत्तर :– "ले सकते हो तो ले लो न, कौन मना करता है ? पर विकल्प मे पर्याय की स्वतन्त्रता का निर्णय हुए बिना पर्याय पर से दृष्टि हटती कहाँ है ? और ज्ञायकस्वभाव पर दृष्टि जाये बिना क्रमबद्धपर्याय का भी सच्चा निर्णय नही होता है। तथा ज्ञायकस्वभाव पर दृष्टि जाने पर क्रमबद्धपर्याय का निर्णय हो ही जाता है। अत क्रमबद्धपर्याय के निर्णय नही करने की बात कहाँ रही ? ज्ञायक-स्वभाव पर दृष्टि जाने के पहिले आगम व युक्ति के आधार पर विकल्पात्मक निर्णय तो हो सकता है, सच्चा नही। पर विकल्पात्मक निर्णय भी तो जरूरी है, उसके बिना पर्याय की महिमा हटती ही नही, पर्याय से दृष्टि हटती ही नही।"

प्रश्न :– "तो इसका मतलब यह हुआ कि पहिले आगम और युक्ति के आधार पर विकल्पात्मक ज्ञान में क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करें, फिर जब हमारी दृष्टि पर्याय पर से हटकर ज्ञायकस्वभाव पर जाएगी – स्थिर होगी, तब क्रमबद्धपर्याय की सच्ची श्रद्धा होगी ?"

उत्तर :– "हाँ, भाई ! बात तो ऐसी ही है।"

प्रश्न :– "आगम के आधार पर क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करें – यह बात तो ठीक, पर लोगो का तो यह कहना है कि शास्त्रो मे तो कही क्रमबद्धपर्याय आई नही है – यह तो आपने नई निकाली है।"

उत्तर :– "नही, भाई ! ऐसी बात नही है। शास्त्रो में अनेक स्थानो पर क्रमबद्ध की बात आती है। समयसार के सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार मे है। वहाँ आत्मख्याति टीका मे 'क्रमनियमित' ऐसा मूल पाठ है।"

प्रश्न :– "क्रमनियमित' का अर्थ क्या है ?"

उत्तर :– "क्रमनियमित शब्द मे क्रम अर्थात् क्रमसर (नम्बर-वार) तथा नियमित अर्थात् निश्चित। जिस समय जो पर्याय आने वाली है वही आएगी, उसमे फेरफार नही हो सकता।"

प्रश्न :– "समयसार मे तो है, पर किसी और भी शास्त्र मे है या नही ? समयसार तो आपका ही शास्त्र है।"

उत्तर :– "लो, यह अच्छी बात कही। समयसार हमारा कैसे है ? हम तो उसे पढते हैं, है तो वह परमपूज्य दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्ददेव का।

प्रवचनसार मे भी गाथा ९९, १००, १०१ व १०२ मे है। विस्तार से सब बात कही है। 'जन्मक्षण' और 'स्वअवसर' की बात आती है। आकाश के प्रदेशो (विस्तारक्रम) का उदाहरण देकर कालक्रम (प्रवाहक्रम) समझाया है। जैसे – जो प्रदेश जहाँ-जहाँ है, वह वही-वही रहता है, उसमे आगे-पीछे होना सम्भव नही। उसी प्रकार जो-जो पर्यायें जिस-जिस काल मे होनी हैं, वे-वे पर्यायें उसी-उसी काल मे होगी, उनका आगे-पीछे होना सभव नही।

प्रत्येक पर्याय स्वयसत् है, अहेतुक है। समयसार के बधाधिकार मे पर्याय को अहेतुक कहा है।"

प्रश्न :– "पर्याय अहेतुक तो है, पर इसके बाद यही होगी – यह कैसे हो सकता है ?"

उत्तर :– "इसमे नही हो सकने की क्या बात है ? इसके बाद यही होगी; जो होने वाली है, वही होगी – ऐसा ही है। मोतियो के हार का दृष्टान्त देकर समझाया है न ? जैसे – माला मे जो मोती जहाँ है, वही रहेगे। यदि उन्हे आगे-पीछे करें तो माला टूट जाएगी; उसीप्रकार जो पर्याय जिस समय होनी होगी, उसी समय होगी, आगे-पीछे करने से वस्तुव्यवस्था ही न बनेगी। उसके आगे-पीछे होने का कारण क्या है ? वह अकारण तो आगे-पीछे हो नही जावेगी। यदि कोई कारण है तो फिर पर्याय अहेतुक नही रहेगी।"

प्रश्न :– "प्रवचनसार भी तो कुन्दकुन्द का ही है। क्या किन्ही और आचार्यों के शास्त्रो मे क्रमबद्ध की बात नही आती ?"

उत्तर :– "क्यो नही आती ? कार्तिकेयानुप्रेक्षा की गाथा ३२१ से ३२३ तक मे आती है। चारो ही अनुयोगों के शास्त्रो में किसी न किसी रूप मे यह बात आती ही है।

फिर सर्वज्ञता की बात तो सभी शास्त्रो मे है। यदि सीधी समझ मे नही आती है तो सर्वज्ञता के आधार पर क्रमबद्धपर्याय समझनी चाहिये। 'केवलज्ञानी ने जैसा देखा होगा – वैसा ही होगा' का यही अर्थ तो होता है कि भविष्य मे जिस समय जो पर्याय होनी है, वही होगी।"

प्रश्न :– "आप क्रमबद्धपर्याय को सिद्ध करने मे सर्वज्ञता का सहारा क्यो लेते हैं ? सीधा ही समझाइये न ?"

उत्तर :– "अरे भाई ! हमने तो यह कहा है कि जब सीधा समझ मे न आ सके तो सर्वज्ञता का सहारा लेना चाहियें, क्योंकि सर्वज्ञता के आधार पर समझने मे सरलता रहती है।"

प्रश्न :– "सर्वज्ञता के आधार पर समझने मे सरलता कैसे रहती है ?"

उत्तर – "सर्वज्ञ भगवान तीनलोक के समस्त द्रव्यो और उनकी त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायो को एकसाथ जानते है। भूतकाल और वर्त्तमान पर्यायो के साथ-साथ वे भविष्य मे होने वाली पर्यायो को भी जानते हैं।"

प्रश्न .– "जानते है का क्या तात्पर्य है ?"

उत्तर – "यही कि जिस द्रव्य की जो पर्याय भविष्य मे जिस समय जैसी होनी है उसे सर्वज्ञ अभी जानते है। अत. जो भावी पर्यायें सर्वज्ञ के ज्ञान मे जैसी आई हैं वे वैसी ही होगी, उनमे कोई फेरफार सभव नही है।

केवलज्ञान (सर्वज्ञता) का निर्णय अर्थात् अर्हन्त का निर्णय। प्रवचनसार गाथा ८० मे आता है कि जो अर्हन्त भगवान को द्रव्यरूप से, गुणरूप से, और पर्यायरूप से जानता है, उसका मोह नाश होता है।

हमे त्रेसठ वर्ष पहिले फाल्गुन सुदी १४ के दिन यही भाव अन्दर से आया था। शब्द ख्याल मे नही थे, वाचन भी नही था, पर भाव यही ख्याल मे आया था।"

प्रश्न :– "केवली भगवान भूत-भविष्य की पर्यायो को द्रव्य मे योग्यतारूप जानते है अथवा उन पर्यायो को वर्त्तमानवत् प्रत्यक्ष जानते है?"

उत्तर – "प्रत्येक पदार्थ की भूत और भविष्यकाल की पर्याय वर्त्तमान मे अविद्यमान – अप्रकट होने पर भी सर्वज्ञभगवान उन्हे वर्त्तमानवत् प्रत्यक्ष जानते हैं। अनन्तकाल पहले हो चुकी भूतकाल की पर्यायें और अनन्तकाल पश्चात् होने वाली भविष्य की पर्यायें अविद्यमान होने पर भी केवलज्ञान वर्त्तमान की तरह प्रत्यक्ष जानता है।

आहा हा! जो पर्यायें हो चुकी और होने वाली हैं, ऐसी भूत-भविष्य की पर्यायो को प्रत्यक्ष जाने उस ज्ञान की दिव्यता का क्या कहना? केवली भगवान भूत-भविष्य की पर्यायो को द्रव्य मे योग्यता-रूप जानते हैं – ऐसा नही है, किन्तु उन सभी पर्यायो को वर्त्तमानवत् प्रत्यक्ष जानते हैं, यही सर्वज्ञ के ज्ञान की दिव्यता है। भूत-भविष्य की अविद्यमान पर्यायें केवलज्ञान मे विद्यमान ही हैं। ओ हो! एकसमय की केवलज्ञान की पर्याय की ऐसी विस्मयता और आश्चर्यता है, तो पूरे द्रव्य की सामर्थ्य कितनी विस्मयपूर्ण और आश्चर्यजनक होगी? उसका क्या कहना?

आहा हा! पर्याय का गुलाट मारना यह कोई छोटी बात है? पर्याय तो अनादि से पर मे ही जा रही है, उसको पलटकर अन्दर मे ले जाना है। गहराई मे ले जाना महान पुरुषार्थ का कार्य है। परिणाम में अपरिणामी भगवान के दर्शन हो जायें, यह पुरुषार्थ अपूर्व है।"

प्रश्न – "केवली भगवान निश्चय से तो केवल अपने आपको जानते हैं, पर को तो वे व्यवहार से जानते हैं, ऐसा नियमसार मे कहा है। और समयसार मे व्यवहार को झूठा कहा है।

झूठा अर्थात् असत्यार्थ ....इसका अर्थ क्या?"

उत्तर :– "व्यवहार है ही नही – ऐसा उसका अर्थ नही है। व्यव-हार जानने लायक है ऐसा १२वी गाथा मे कहा है। वह जाना हुआ

प्रयोजनवान है। सर्वथा झूठा नही है, उसे गौण करके असत्यार्थ कहा है। प्रवचनसार की टीका मे पाडे हेमराजजी ने कहा है कि व्यवहार को गौण करके असत्य कहा है, अभाव करके असत्य नही कहा है।"

प्रश्न :– "तो क्या केवली पर को जानते नही ?"

उत्तर :– "कौन कहता है ? जानते तो वे सभी पदार्थ है।"

प्रश्न :– "फिर उनके पर के जानने को व्यवहार क्यो कहा ?"

उत्तर :– "पर है – इसलिए तथा तन्मय होकर नही जानते – इसलिए भी।"

प्रश्न :– "क्रमबद्ध मानने से सब गडबड़ हो जाता है ?"

उत्तर :– "गड़बड़ तो क्रमबद्ध नही मानने से होता है। क्रमबद्ध मानने से तो सब गड़बड उड़ जाती है। वस्तु मे तो कही गडबड है नही, वह तो पूर्ण व्यवस्थित है। अज्ञानी की मति ही गडबड़ा रही है। सो क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा से मति व्यवस्थित हो जाती है।"

प्रश्न :– "जब हमारे करने से कुछ होता ही नही है तो फिर कोई कार्य क्यो करेगा ? जब कोई बनाएगा नही तो यह पडाल कैसे बनेगा ? कारखाने कैसे चलेंगे ? सारी व्यवस्था ही गड़बडा जाएगी।"

उत्तर :– "कौन पडाल बनाता है, कौन कारखाने चलाता है ? अज्ञानी पंडाल बनाने और कारखाने चलाने का अभिमान करते हैं – यह बात तो सही है, पर बनाता या चलाता कोई किसी को नही। जब एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य मे अत्यन्त अभाव है तब एक द्रव्य दूसरे द्रव्य मे क्या कर सकता है ? अत्यन्त अभाव का अर्थ क्या ? यही कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को छूता भी नही है। छुए तो अभाव नही रहे।"

प्रश्न :– "यदि आप ऐसा उपदेश देंगे तो लोग आलसी हो जाएँगे। जब उनके करने से कुछ होता ही नही तो कोई पुरुषार्थ क्यो करेगा ?"

उत्तर :– "क्रमबद्धपर्याय के निर्णय मे ही सच्चा पुरुषार्थ है। क्योंकि क्रमबद्ध का निर्णय करने मे ज्ञायकस्वभाव पर दृष्टि जाती है। जिसप्रकार ज्ञायक मे भव नही; उसीप्रकार क्रमबद्ध के निर्णय

करनें वाले को भी भव नही होते, एक-दो भव रहते हैं, वे भी ज्ञेय तरीके से रहते हैं।

अपनी मति मे क्रमबद्ध की व्यवस्था को व्यवास्थत करना ही सच्चा पुरुषार्थ है।"

प्रश्न :– "पर्याय तो व्यवस्थित ही होने वाली है अर्थात् पुरुषार्थ की पर्याय तो जब उसके प्रकट होने का काल आएगा तभी प्रकट होगी – ऐसी स्थिति मे अब करने को क्या रह गया ?"

उत्तर :– "व्यवस्थित पर्याय है – ऐसा जाना कहाँ से ? व्यवस्थित पर्याय द्रव्य मे है, तब तो द्रव्य के ऊपर ही दृष्टि करनी है। पर्याय के क्रम के ऊपर दृष्टि न करके, क्रमसरपर्याय जिसमे से प्रकट होती है – ऐसे द्रव्यसामान्य के ऊपर ही दृष्टि करनी है, क्योकि उस पर दृष्टि करने मे अनन्त पुरुषार्थ आ जाता है। क्रमबद्ध के सिद्धान्त से अकर्त्तापना सिद्ध होता है, क्रम के समक्ष देखना नही।"

प्रश्न :– "क्रमबद्ध मे करने के लिए क्या आया ?"

उत्तर :– "करना है कहाँ ? करने मे तो कर्त्तृत्वबुद्धि आती है। करनें की बुद्धि छूट जाए यह क्रमबद्ध है। क्रमबद्ध मे कर्त्तृत्वबुद्धि छूट जाती है। पर मे तो कुछ कर सकता ही नही, अपने मे भी जो होने वाला है वही होता है अर्थात् अपने में भी जो राग होना है वह होता है, उसका क्या करना ? राग मे भी कर्त्तृत्वबुद्धि छूट गयी, भेद और पर्याय से भी दृष्टि हट गयी, तब क्रमबद्ध की प्रतीति हुई। क्रमबद्ध की प्रतीति मे तो ज्ञातादृष्टा हो गया, निर्मल पर्याय करूँ – ऐसी बुद्धि भी छूट गयी, राग को करूँ – यह बात तो दूर रह गयी। अरे ! ज्ञान करूँ यह बुद्धि भी छूट जाती है, कर्त्तृत्वबुद्धि भी छूट जाती है और अकेला ज्ञान रह जाता है। जिसे राग करना है, राग मे अटकना है, उसे क्रमबद्ध की बात जमी ही नही। राग को करना और राग को छोड़ना – यह भी आत्मा मे नही है। आत्मा तो अकेला ज्ञानस्वरूप है।

पर की पर्याय तो जो होने वाली है वह तो होती ही है उसे मैं करूँ ही क्या ? और मेरे में जो राग आता है उसे मैं क्या लाऊँ ? और मेरे मे जो शुद्ध पर्याय आए उसको करूँ-लाऊँ – ऐसे विकल्प से भी क्या ? अपनी पर्याय मे होने वाला राग और होने वाली शुद्ध

पर्याय उसको करने का विकल्प क्या ? राग और शुद्ध पर्याय के कर्तृत्व का विकल्प शुद्ध स्वभाव में है ही नही। अकर्त्तापना आजाना ही मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ है।"

प्रश्न :– "क्रमवद्धपर्याय की वात कहकर आप सिद्ध क्या करना चाहते हैं ?"

उत्तर :– "क्रमवद्ध के सिद्धान्त सेमूल तो अकर्त्तापना सिद्ध करना है। जैनदर्शन अकर्त्तावादी है। आत्मा परद्रव्य का तो कर्त्ता है ही नही, राग का भी कर्त्ता नही, और पर्याय का भी कर्त्ता नही। पर्याय अपने ही जन्मक्षरण मे अपने ही षट्कारक से स्वतंत्ररूपेण जो होने योग्य है वही होती है; परन्तु इस क्रमवद्ध का निर्णय पर्याय के लक्ष से नही होता। क्रमवद्ध का निर्णय करने जाए तो शुद्ध चैतन्य ज्ञायक-धातु के ऊपर दृष्टि जाती है और तभी जानने वाली जो पर्याय प्रकट होती है वह क्रमबद्धपर्याय को जानती है। क्रमबद्धपर्याय का निर्णय स्वभावसन्मुख वाले अनन्त पुरुषार्थपूर्वक होता है।

क्रमबद्ध के निर्णय का तात्पर्य वीतरागता है और यह वीतरागता पर्याय मे तभी प्रकट होती है जव वीतराग स्वभाव के ऊपर दृष्टि जाती है। समयसार गाथा ३२० मे कहा है कि ज्ञान वध-मोक्ष का कर्त्ता नही है, किन्तु जानता ही है। आहा हा ! मोक्ष को ज्ञान जानता है – ऐसा कहा; मोक्ष को करता है – ऐसा नही कहा। अपने मे होने वाली क्रमसरपर्याय का कर्त्ता है – ऐसा नही; किन्तु जानता है – ऐसा कहा; गजब बात है।"

प्रश्न :– "जब कुछ करना ही नहीं है, तो फिर आप आत्मा का अनुभव करने का – ज्ञायकस्वभाव के सन्मुख दृष्टि करने का उपदेश क्यो देते हैं ?"

उत्तर :– "हम कहाँ देते हैं उपदेश ? वाणी तो जड है, अत. जड़ के कारण निकलती है। परमपूज्य अमृतचन्द्राचार्यदेव आत्मख्याति के अन्त मे लिखते हैं कि टीका हमने लिखी है – ऐसा जानकर मोह मे मत नाचो। यह तो अक्षरो और शब्दो की परिणति है, हमारी नही। भाषा तो हमारी है ही नही, समझाने के विकल्प को भी ज्ञानी अपना नही मानता। हम तो पर को और विकल्प को भी मात्र जानते हैं और वह भी व्यवहार से, निश्चय से तो हम मात्र अपने को जानते हैं।"

प्रश्न :– "सभी गुणो का कार्य व्यवस्थित ही है तो फिर पुरुषार्थ करना भी रहता नही ?"

उत्तर – "जिसको क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा मे पुरुषार्थ भासित नही होता, उसको व्यवस्थितपना बैठा ही कहाँ है ?"

प्रश्न :– "उसको व्यवस्थितपने का श्रद्धान नही हुआ तो उसका वैसा परिणमन भी तो व्यवस्थित ही है। वह व्यवस्थितपने का निर्णय नही कर सका यह बात भी तो व्यवस्थित ही है। ऐसी दशा मे निर्णय करने की कथा करना व्यर्थ ही है ?"

उत्तर :– "उसका परिणमन व्यवस्थित ही है ऐसी उसे खबर कब है ? परिणमन व्यवस्थित है – ऐसा सर्वज्ञ ने कहा है, परन्तु उसे सर्वज्ञ का निर्णय ही कहाँ है ? प्रथम वह सर्वज्ञ का निर्णय तो करे ? पश्चात् उसे व्यवस्थित की खबर पड़े।"

प्रश्न :– "व्यवस्थित परिणमनशील वस्तु है, इसप्रकार भगवान के कथन की श्रद्धा उसे है ?"

उत्तर :– "नही, सर्वज्ञ भगवान का सच्चा निर्णय उसको कहाँ है ? पहले सर्वज्ञ का निश्चय हुए बिना व्यवस्थित का निर्णय कहाँ से आया ? मात्र ज्ञानी की बातें सुन-सुनकर वैसा-वैसा ही कहे तो इससे काम नही चलेगा, प्रथम सर्वज्ञ का निर्णय तो करो। द्रव्य का निर्णय किये बिना सर्वज्ञ का निर्णय वास्तव मे हो सकता नही।"

प्रश्न – "आप समझाते भी जाते हैं और कहते भी जाते हैं कि हम कहाँ समझाते है ?"

उत्तर :– "कौन समझाता है ? कहा न कि भाषा के कारण भाषा होती है, विकल्प के कारण विकल्प होता है और उस समय भाषा और विकल्प का ज्ञान भी अपने कारण होता है। इसमे हमारा कर्त्तापना कहाँ रहा ?"

प्रश्न :– "इसीलिए तो लोग कहते हैं कि आपकी करनी और कथनी मे अन्तर है ?"

उत्तर :– [अत्यन्त गम्भीर होकर] "वस्तुस्वरूप ही ऐसा है, हम क्या करें ? जैसा श्रद्धान, ज्ञान और वचन है वैसा चारित्र भी

होना चाहिए, वह अभी नही हैं; पर श्रद्धा मे फेर नही है। करनी और कथनी का यह अन्तर तो है ही। पर यह अन्तर तो क्षायकसम्यग्दृष्टि भरतादि चक्रवर्तियो के भी था। चतुर्थगुणस्थानवर्ती सभी ज्ञानियो के होता है – इसमे हम क्या करें ?"

प्रश्न :– "यदि यह श्रद्धा और चारित्र का भेद मिट जावे तो बहुत अच्छा रहे ?"

उत्तर :– "मिट जाए तो क्या कहना ? हम भी तो निरन्तर यही भावना भाते हैं, पर तीर्थंकर ऋषभदेव के भी ८३ लाखपूर्व तक चारित्रदोष रहा था। एक गुण दूसरे गुण में दोष उत्पन्न नही करता – यह महासिद्धान्त है, अन्यथा सम्यग्दर्शन नही हो सकता। चारित्र और वीर्य मे दोष है, परन्तु सम्यग्दर्शन मे दोष नही है।"

अन्त मे चर्चा में बैठे हुए हजारो लोगो को सम्बोधित करते हुए स्वामीजी बोले –

"आज अच्छी चर्चा रही, पण्डितजी ने अच्छे प्रश्न किये।"

"क्रमबद्ध तो बापू जैनदर्शन का मस्तक है, जैनदर्शन की आँख है, वस्तुस्वभाव की मर्यादा है। इसे समझना और निस्सन्देह होना बडी अलौकिक बात है।

आज भले ही इसे कम लोग समझते हो, पर सुनते हजारो लोग बडे प्रेम से हैं। सुनें····· भाई सुनें····· सभी सुनें·····पढें·····और सबका कल्याण हो।"

– कहते हुए उन्होने अपनी बात समाप्त की।

परिशिष्ट २

संदर्भ ग्रंथ-सूची

१. अध्यात्म-रहस्य (योगोद्दीपन-शास्त्र) पण्डित आशाधरजी, व्याख्याकार-पण्डित युगलकिशोर मुख्तार; वीरसेवामन्दिर, २१ दरियागज, दिल्ली, वीर स० २४८४

२. अध्यात्म-पद-सग्रह : सम्पादक – पण्डित महेन्द्रकुमारजी अजमेरा 'प्रभाकर', आयुर्वेदाचार्य, पचेवर, प० लादूरामजी अजमेरा, मदनगज-किशनगढ (राजस्थान)

३. अष्टशती · आचार्य अकलकदेव

४. अष्टसहस्त्री · आचार्य विद्यानन्दि

५. अष्टपाहुड श्रीमद् आचार्य कुन्दकुन्द, टीकाकार – श्री पण्डित जयचन्दजी छाबडा, श्री वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, भावनगर (गुजरात), वीर स० २५०२

६. अनेकान्त और स्याद्वाद : डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए-४, बापूनगर, जयपुर, अगस्त, १९७३ ई०

७. आप्तमीमासा (देवागम स्तोत्र) . श्रीमद् स्वामी समन्तभद्राचार्य, वीर-सेवामन्दिर ट्रस्ट, २१ दरियागज, दिल्ली, वीर स० २४९४

८. आत्मानुशासन · आचार्य गुणभद्र, डॉ० हीरालालजी जैन, प्रो० आ० ने० उपाध्ये, पण्डित बालचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री, जैन सस्कृति सरक्षक सघ, शोलापुर, वि० स० २०१८

९ आदिपुराण . आचार्य जिनसेन, सम्पादक – पण्डित पन्नालालजी जैन, साहित्याचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी, वीर स० २४९१

१० आत्मधर्म (मासिक पत्रिका) श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ, मार्च, १९७०

११ कषायपाहुड आचार्य गुणधर, भारतीय दिगम्बर जैन सघ, चौरासी, मथुरा, वि० स० २०००

१२. कार्तिकेयानुप्रेक्षा (भाषा टीका सहित) स्वामी कार्तिकेय; प० कैलाश-चन्द्रजी, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास, वाया आणद (गुजरात)

१३ **गोम्मटसार कर्मकाण्ड** (सक्षिप्त हिन्दी टीका सहित) . आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती, टीकाकार – पण्डित मनोहरलालजी शास्त्री, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास, ई० सन् १६७१

१४. **जयपुर** (खानियाँ) **तत्त्वचर्चा, दोनों भाग** सम्पादक – सिद्धान्ताचार्य प० फूलचन्दजी, आचार्यकल्प पडित श्री टोडरमल ग्रथमाला, बापूनगर, जयपुर, फरवरी, १६६७

१५. **जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश, भाग २** . क्षुल्लक जिनेन्द्रवर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी, वि० स० २०२८

१६. **जैनतत्त्वमीमांसा** . (द्वितीय सस्करण) पडित फूलचन्दजी सिद्धान्त शास्त्री, अशोक प्रकाशन मन्दिर, २/२४६, निर्वाण भवन, रवीन्द्रपुरी, वाराणसी, वीर सं० २५०४

१७. **तत्त्वार्थसूत्र** (मोक्षशास्त्र) . आचार्य उमास्वामी, सम्पादक – श्री पडित कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री, भारतवर्षीय दिगम्बर जैन सघ, चौरासी, मथुरा, वीर स० २४७७

१८. **तत्त्वार्थवार्तिक** (राजवार्तिक) : आचार्य अकलकदेव, सम्पादक – प्रो० महेन्द्रकुमारजी जैन, न्यायाचार्य; भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दुर्गाकुड रोड, वाराणसी, वीर स० २४७६

१९. **तिलोयपण्णत्ति** यतिवृषभाचार्य, जीवराज ग्रथमाला, शोलापुर, वि० स० १६६६

२०. **धवला** (षट्खण्डागम) आचार्य वीरसेन, जैन साहित्योद्धार फण्ड, अमरावती

२१. **नियमसार** (तात्पर्यवृत्ति सस्कृत टीका सहित) . आचार्य कुन्दकुन्द; श्री पद्मप्रभमलधारिदेव, श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ (सौराष्ट्र)

२२. **परमात्मप्रकाश और योगसार** मुनिराज योगिन्दुदेव, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास, वि० स० २०१७

२३. **पद्मनन्दिपंचविंशतिका** मुनिराज पद्मनन्दि, सम्पादक – श्री पण्डित बालचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री, श्री जैन सस्कृति सरक्षक सघ, शोलापुर, वीर स० २५०३

२४. **पद्मपुराण** : आचार्य रविषेण, सम्पादक – प० पन्नालालजी साहित्याचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, वि० स० २०१६

२५. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (भाषा टीका सहित) : आचार्य अमृतचन्द्र, टीकाकार-आचार्यकल्प प० टोडरमलजी तथा पडित दौलतरामजी कासलीवाल; मुशी मोतीलाल शाह, किशनपोल बाजार, जयपुर
२६. प्रवचनसार (तत्त्वप्रदीपिका सस्कृत टीका सहित) आचार्य कुन्दकुन्द, आचार्य अमृतचन्द्र, श्री वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, ६०२, कृष्णनगर, भावनगर (गुजरात), वि० सं० २०३२
२७ प्रवचनसार (तात्पर्यवृत्ति सस्कृत टीका) आचार्य कुन्दकुन्द, आचार्य जयसेन, श्री वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, ६०२, कृष्णनगर, भावनगर (गुजरात); वि० स० २०३२
२८. परीक्षामुख : आचार्य माणिक्यनन्दि, हरप्रसाद जैन, वैद्यभूषण, मु० लुहर्रा, पो० मडावरा, झाँसी (उ० प्र०), वीर स० २४६५
२९. प्रमेयरत्नमाला आचार्य अनन्तवीर्य, मुनि अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला, कालवादेवी रोड, बम्बई
३० बुधजन विलास कवि बुधजन, जिनवाणी प्रचारक कार्यालय, १६१/१ हरीसन रोड, कलकत्ता, वीर स० २४७७
३१. भगवती आराधना आचार्य श्री शिवार्य, सम्पादक - प० श्री कैलाशचन्द्रजी, जैन सस्कृति सरक्षक सघ, शोलापुर, वीर स० २५०४
३२. महापुराण आचार्य जिनसेन और आचार्य गुणभद्र, सम्पादक–पडित पन्नालालजी जैन, साहित्याचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, ई० स० १९५१
३३. मोक्षमार्ग प्रकाशक आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी, सम्पादक – डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल, श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ (सौराष्ट्र), वि० स० २०३५
३४ मोक्षमार्ग प्रकाशक आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी, सस्ती ग्रन्थमाला, दिल्ली, वि० स० २०१०
३५. योगसार प्राभृत : श्रीमद् आचार्य अमितगति, सम्पादक – श्री जुगलकिशोरजी मुख्तार 'युगवीर', भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी, वीर स० २४९५
३६ रत्नकरण्ड श्रावकाचार (भाषा टीका सहित) आचार्य समन्तभद्र, पण्डित सदासुखदासजी कासलीवाल, श्री दिगम्बर जैन समाज, माधोराजपुरा (राजस्थान)

३७. **रहस्यपूर्ण चिट्ठी** (मोक्षमार्ग प्रकाशक के साथ प्रकाशित) : आचार्य-कल्प पण्डित टोडरमलजी, श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ (सौराष्ट्र), वि० स० २०३५

३८. **वर्त्तमान चतुर्विंशतिजिनपूजा** (चन्द्रप्रभ जिनपूजा) : कविवर वृन्दावनदासजी, वीर पुस्तक भण्डार, मनिहारो का रास्ता, जयपुर; वि० स० २०३२

३९. **शान्तिपथ दर्शन** : क्षुल्लक श्री जिनेन्द्रवर्णी, शान्ति निकेतन, उदासीन आश्रम, ईसरी बाजार, गिरडीह, १९७६ ई०

४०. **समयसार** (आत्मख्याति सस्कृत टीका सहित) आचार्य कुन्दकुन्द, टीकाकार–आचार्य अमृतचन्द्र, श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र), वीर स० २५०१

४१ **समयसार** (तात्पर्यवृत्ति सस्कृत टीका सहित) : आचार्य कुन्दकुन्द, टीकाकार – आचार्य जयसेन, श्री दिगम्बर जैन समाज, अजमेर

४२ **समयसार कलश** (भाषा टीका सहित) आचार्य अमृतचन्द्र, टीकाकार-श्री पाण्डे राजमलजी, श्री वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, भावनगर (गुजरात), वीर स० २५०३

४३ **सम्मईसुत्तम्** (सन्मति सूत्र) आचार्य सिद्धसेन, सम्पादक – डॉक्टर देवेन्द्रकुमारजी शास्त्री, ज्ञानोदय ग्रन्थ प्रकाशन, नीमच (मध्य-प्रदेश), १९७८ ई०

४४ **सर्वार्थसिद्धि** आचार्य पूज्यपाद, सम्पादक – पण्डित फूलचन्दजी सिद्धान्त शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी, १९७१ ई०

४५. **स्वयभूस्तोत्र** · आचार्य समन्तभद्र, वीरसेवामन्दिर, सरसावा

४६ **हरिवंश पुराण** आचार्य जिनसेन, सम्पादक पडित पन्नालालजी जैन, साहित्याचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, १९६२ ई०

४७ **ज्ञानस्वभाव-ज्ञेयस्वभाव** (प्रवचन सकलन) प्रवचन – श्री कानजी स्वामी, सकलनकर्त्ता – ब्र० हरिलाल, श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र), वीर स० २५०३

परिशिष्ट ३

अभिमत

आचार्यों, मुनिराजों, व्रतियों, विद्वानों व लोकप्रिय पत्र-पत्रिकाओं की दृष्टि में प्रस्तुत प्रकाशन –

★ आचार्य श्री जयसागरजी महाराज

क्रमबद्धपर्याय तो चारो अनुयोगो मे है। धवला, महाधवला, जयधवला आदि ग्रथो मे भी क्रमबद्ध तथा सर्वज्ञता की पोषक बातें हैं। एक सच्चा जैन होने के लिये क्रमबद्धपर्याय तथा सर्वज्ञता का मानना बहुत जरूरी है। क्रमबद्धपर्याय का निबन्ध लिखकर डॉ० भारिल्लजी ने बहुत मर्म खोला है। वे तत्त्वप्रचार का कार्य इसीप्रकार करते रहें। उनको हमारा मगल आशीर्वाद है।

★ मुनि श्री विजयसागरजी महाराज

'क्रमबद्धपर्याय' पुस्तक मे डॉ० भारिल्ल ने मानव जगत को अव्यवस्थितपना भी एक निश्चित व्यवस्थित क्रम के अनुसार ही होता है, बडी ही सरलता से समझाने का प्रयास किया है। सर्वज्ञता का सहारा लेकर क्रमबद्धपर्याय को जिस उदाहरण और ठोस प्रमाणो से सकलन किया है, उससे ज्ञानी पुरुष तो लाभान्वित अवश्य होंगे ही, किन्तु अज्ञानियो पर भी इसकी झलक पडे बिना नही रहेगी।

भविष्य मे भी डॉ० भारिल्ल ऐसी सच्ची जैन कृतियो का सकलन करते रहे – ऐसा हमारा परम मगल आशीर्वाद है।

★ मुनिश्री नेमिसागरजी महाराज

आपका प्रयास अकथनीय सराहनीय है। आपने इस विषय को बहुत अच्छा खोला है।

★ स्वस्तिश्री भट्टारक चारुकीर्ति स्वामीजी, मूडबिद्री

भारिल्लजी उत्तमवक्ता के साथ कलम के धनी भी हैं। उन्हें शास्त्रगत सिद्धान्त के गहराई तक पहुँच कर उसे नई रीति से प्रस्तुत करने मे सफलता मिली है। यद्यपि विषय गभीर है, सामान्यजन सुलभ नही है।·· · फिर भी विद्वानो के लिए लेखक की यह कृति मननीय और मन्थनीय बनी है। साथ ही ऐसे बहुचर्चित विषय का आचार्यों के उद्धरणो के साथ जो प्रस्तुतीकरण किया गया है, वह स्तुत्य है।

★ वयोवृद्ध विद्वान् ब्र० पं० मुन्नालालजी राघेलीय (वर्णी), न्यायतीर्थ, सागर

यह पुस्तक वहुत ही खोजपूर्ण और सुन्दर ढग से वेजोड लिखी गई है। इसमे डॉ० भारिल्लजी ने जैनसिद्धान्त के सार को अपनी वरद् लेखनी द्वारा विस्तार से लिखा है। पुस्तक का मुख्य प्रयोजन ससार के कारणभूत कर्तृत्व आदि के मिथ्या अहकार को मिटाना है।

पुस्तक मे अनेकान्त शैली से वस्तुस्वभाव वताया है। स्याद्वाद और अनेकान्त जैन तत्त्वो का मापदण्ड है, उसमे द्रव्य-गुण-पर्याय सभी गर्भित हैं तथा उसमे लागू होने वाले नियम कभी वदलते नही हैं। जो जीव अज्ञानता-वश वदलने का अहकार करता है वह दीर्घससारी है, इसमे भय और दवाव का काम नही है – यह तो वस्तुस्वभाव का चित्रण है।

क्रमवद्धपर्याय मानने पर अकाल मृत्यु के कहने से कोई वाधा नही आती। वस्तुत तो अकाल मृत्यु कभी होती ही नही, पर्याय स्वय अपने समय मे वदलती है, असमय मे नही। अतएव भ्रम छोड देना चाहिए '

हमारी शुभकामना है कि भारिल्लजी से शतायुष्क तक समाज लाभ उठाये। इस पुस्तक के अतिरिक्त धर्म के दशलक्षण, तीर्थंकर भगवान महावीर, अपने को पहचानिए आदि कृतियाँ भी अपूर्व सग्रहणीय एव मननीय हैं।

★ ब्र० यशपालजी जैन, एम० ए०, वाहुवली (महाराष्ट्र)

वैसे 'क्रमवद्धपर्याय' के सम्वन्ध मे अनेक वर्षो से सुनता था, परन्तु अनेक शकाएँ (मुख्यत पुरुषार्थहीनता आ जाती है, इत्यादि) मन मे आकुलता उत्पन्न करती थी। परन्तु जव से डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल की 'क्रमवद्धपर्याय' (एक अनुशीलन तथा प्रश्नोत्तर) आत्मधर्म मे तथा पुस्तक रूप मे समग्र पढने को मिली तो सव शकाएँ स्वय गायव हो गईं। 'क्रमवद्धपर्याय' एक सतोषप्रदायिनी अनुपम घूटी है, ऐसी मेरी श्रद्धा वन गई है।

आगमोक्त तर्को से तथा युक्तियो से कठिन विषय अत्यन्त रोचक रीति से पाठको के सामने रखा है। 'क्रमवद्धपर्याय' विषय पर डॉ० भारिल्लजी के प्रवचन सुनना भी विषय-निर्णय के लिये लाभदायक सिद्ध होता है – ऐसा मेरा तथा अनेक तत्त्वरसिको का सफल अनुभव है। जिज्ञासु इसका भी लाभ उठावें।

पूज्य श्री कानजी स्वामी के उत्तर (इन्टरव्यू) मे तो इस पुस्तक का सर्वोपरि स्वानुभवगर्भित अमृत है। प्रत्येक आगम-श्रद्धालु व्यक्ति तथा आगमाभ्यासी को इस पुस्तक का दिल खोलकर स्वागत करना चाहिए।

* वयोवृद्ध व्रतीविद्वान ब्र० प० जगन्मोहनलालजी शास्त्री, कटनी

क्रमबद्धपर्याय का कथन आचार्य अमृतचद्र की आत्मख्याति टीका (समयसार) मे आया है। उन्होने 'क्रमनियमित' शब्द का प्रयोग किया है। दोनो शब्द का अर्थ समान ही है। जो क्रमनियमित हो वह क्रमबद्ध है, और जो क्रमबद्ध हो वह क्रमनियमित है। अर्थभेद नही है। बल्कि क्रमबद्ध मे पर्याय के क्रम की ही सूचना है और क्रमनियमित मे वह पर्याय केवल क्रमबद्ध ही नही, किन्तु जिन-जिन कारणो के सदर्भ मे वह पर्याय है, वे सब कारण तथा उनका यथासमय सयोग भी नियमित है, यह स्पष्ट होता है। **इसका विरोध आचार्य अमृतचद्र का ही विरोध है।**

डॉ० भारिल्ल कलम के धनी हैं, अत उनके द्वारा लिखी गई उक्त पुस्तक यथार्थ तत्त्व के निरूपण करने मे सफल है, यह कहा जा सकता है।

क्रमबद्धपर्याय के सम्बन्ध मे अनेक विद्वान् विवाद करते हैं, वे इसे स्वीकार नही करते। यह सब विरोध केवल इस आधार पर है कि डॉ० भारिल्ल सोनगढ पक्ष के हैं और सोनगढ पक्ष की ओर उक्त विद्वानो की वक्रदृष्टि है, अन्यथा वे भी विरोध न करते।

* सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचंद्रजी, वाराणसी

क्रमबद्धपर्याय भी अब जानकार जैनो से अज्ञात नही है। आज से लगभग दो दशक पूर्व हमने इस पर 'सदेश' मे बहुत लिखा था और जैनगजट मे उसके सम्पादक प० अजितकुमारजी शास्त्री ने इसका विरोध किया था। खानियाचर्चा मे यह विषय चर्चित हुआ था। इसको माने बिना सर्वज्ञता बनती नही और सर्वज्ञता को माने बिना जैनधर्म की स्थिति नही है। **जो इसका विरोध करते हैं वे जैनधर्म के मूल पर कुठाराघात करते हैं।**

जब केवलज्ञान सब द्रव्यो की सब पर्यायो को जानता है अर्थात् भूत और वर्त्तमान पर्यायो की तरह भावी पर्यायो को जानता है – ऐसी कोई पर्याय नही है जो उसका विषय न हो – तो ही सर्वज्ञता बनती है। किस द्रव्य की कौन पर्याय किस काल मे होगी यह सर्वज्ञ जानता है। इस तरह जब प्रत्येक पर्यायका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव उसे ज्ञात है; तब पर्याय का क्रम तो सुनिश्चित होना ही चाहिए।

आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार के प्रथम अधिकार में इसे सुस्पष्ट किया है। हाँ, क्रमबद्ध शब्द का प्रयोग नही किया। आचार्य अमृतचन्द्र ने

समयसार के सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार के प्रारम्भ में क्रमनियमित या क्रमनियत पद का प्रयोग किया है जिसका अर्थ 'क्रमवद्ध' ही होता है।

जिसे आगम मे अकालमरण कहा है वह भी अक्रमनियत नही है। किस जीव ने कितनी आयु का वन्ध किया है और वह आयु पूरी करके मरेगा या अकाल मे ही अर्थात् आयु का समय पूरा होने से पूर्व ही उदीरणा प्रत्यय के द्वारा मरेगा यह भी सर्वज्ञ से अज्ञात नही है। अकाल का आशय है जितनी आयु बाधी उसे पूर्ण न भोगकर मरण। श्रुतज्ञान मे वह अकालमरण कहा जाता है, किन्तु सर्वज्ञ के ज्ञान मे वह भी प्रतिभासित है।

इस पुस्तक में विद्वान लेखक ने इस पर विचार किया है और प्रश्नोत्तर द्वारा अच्छा प्रभाव डाला है। छपाई, कागज, गेट-अप सभी सुन्दर और आकर्षक हैं। — जैन सदेश (साप्ताहिक), मथुरा, २१ फरवरी १९८०

★ विद्वद्वर्य पं० खीमचन्द जेठालाल सेठ, सोनगढ़

डॉ० हुकमचन्दजी शास्त्री ने आत्मज्ञसन्त पूज्य श्री कानजी स्वामी के श्री समयसार गाथा ३०८–९–१०–११ पर हुए अध्यात्मरस-पूर्ण अत्यन्तसूक्ष्म भाववाही प्रवचनो तथा अन्य अनेक शास्त्रो के आधार से इस 'क्रमबद्धपर्याय' नामक शास्त्र की अद्वितीय रचना की है। जो जीव इसका वांचन-मनन करके अन्तर्मुख परिणमन करेंगे उनकी अनन्त पदार्थों की कर्तृत्व-बुद्धि तथा अपनी पर्यायों में फेरफार करने की बुद्धि अवश्य छूट जाएगी। **क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा से अनन्त आकुलता का अभाव होकर अनन्त वीतरागता प्रगट होती है और यही इस शास्त्र का तात्पर्य है।** ऐसे वीतरागतापोषक शास्त्र की रचना करने के लिए पंडितजी अभिनन्दन के पात्र हैं। सभी जीव इस शास्त्र का यथार्थ भाव समझकर विशुद्धता को प्राप्त करें, यही आन्तरिक भावना है।

★ सुप्रसिद्ध आध्यात्मिक प्रवक्ता पं० श्री लालचंद भाई मोदी, राजकोट

आत्मज्ञानी के हृदय को अनेक युक्तियो से खोलनेवाली एव आगम पर आधारित डॉ० हुकमचद भारिल्ल की यह कृति 'क्रमवद्धपर्याय' प्रशसनीय है।

★ बाबू श्री जुगलकिशोरजी 'युगल', एम० ए०, साहित्यरत्न, कोटा (राजस्थान)

डॉ० भारिल्लजी की 'क्रमबद्धपर्याय', निश्चित ही न केवल सामान्य वरन् विशिष्ट बौद्धिक जन-मानस मे उत्पन्न असख्य भ्रम एव शंकाओ को निराकृत कर सर्वज्ञ की गौरव-गरिमा की स्थापना करने वाली पहली पुस्तक है।

★ पं० नरेन्द्रकुमारजी शास्त्री, न्यायतीर्थ, सोलापुर (महाराष्ट्र)

वस्तुस्वभाव के मर्मज्ञ धुरन्धर विद्वान लेखक महोदय ने 'क्रमबद्धपर्याय' – इस ग्रन्थ द्वारा यथार्थ वस्तुस्वभाव का मार्गदर्शन कर शांति-सुख के मार्ग का ही मार्गदर्शन किया है।

★ पं० नन्हेलालजी, न्याय-सिद्धान्तशास्त्री, राजाखेड़ा (राजस्थान)

डॉ० भारिल्ल के प्रतिभा-सम्पन्न ज्ञान की जितनी प्रशसा की जाय, कम है। डॉ० भारिल्ल ने इस छोटी-सी अवस्था में अनेक मार्मिक, आगमिक विषयों के मनन और चिन्तन के साथ उन विषयो को जैन-जगत के समक्ष लिपिबद्ध करके प्रस्तुत किया है – यह उनके विशिष्ट क्षयोपशम और परभव-गत पुण्य की बात है। मेरा शुभभाव के साथ शुभाशीर्वाद है कि उनका भविष्य इससे भी अधिक प्रगतिशील बने।

★ पं० भंवरलालजी पोल्याका, जैनदर्शनाचार्य, साहित्यशास्त्री, मारोठ (राज०)

डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल द्वारा रचित 'क्रमबद्धपर्याय' नामक पुस्तक का मैंने आद्योपान्त शब्दशः पारायण किया है और मुझे यह लिखने में जरा भी सकोच नहीं है कि ऐसे शुष्क दार्शनिक विषय को जिस रोचक एवं तर्कपूर्ण शैली मे प्रस्तुत किया गया है वह डॉ० भारिल्ल की लेखनी से ही अनुस्यूत हो सकती थी।

'क्रमबद्धपर्याय' श्रद्धा का विषय है और यह सच है कि उसे बिना जाने-माने जीव को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हो सकती। यह पुस्तक स्वाध्याय-प्रेमियो के लिए उपयोगी है। प्रकाशन सर्वांग सुन्दर है। लेखक, मुद्रक एव प्रकाशक सभी इसके लिए बधाई के पात्र हैं। ट्रस्ट द्वारा जो जिनवाणी के प्रचार-प्रसार का कार्य हो रहा है वह दीर्घकाल तक चलता रहे यही कामना है।

★ पं० रतनलालजी कटारिया, केकड़ी (राजस्थान)

'क्रमबद्धपर्याय' पर आज तक किसी ने इतना मनन-चिन्तनपूर्वक लेखन नही किया है। आपका विश्लेषण बहुत सुन्दर बन पड़ा है। जो कुछ लिखा गया है वह रोचक और युक्तियुक्त है। आपका परिश्रम वस्तुत स्तुत्य है। पुस्तक की छपाई-सफाई, बाइंडिग आदि सब आकर्षक हैं।

इस श्रुतसेवा के लिए साधुवाद।

★ श्री अमृतलालजी जैन, जैन विश्वभारती, लाडनूं (राजस्थान)

आपकी लेखनी से प्रसूत 'क्रमबद्धपर्याय' पुस्तक को मैंने आद्योपान्त रुचिपूर्वक पढ़ा और प्रसन्नता का अनुभव किया। प्रस्तुत विषय पर विशद प्रकाश डालने वाली यह एक अनूठी कृति है। आर्ष-ग्रन्थो एव प्रवल युक्तियो के आधार पर आपने प्रस्तुत विषय पर गहराई से विचार किया है। ऐसी सुन्दर रचना के लिए आप एव प्रकाशक दोनो ही हार्दिक बधाई के पात्र हैं।

★ श्री नरेन्द्रप्रकाशजी जैन, प्राचार्य, जैन इन्टर कॉलेज, फिरोजाबाद (उ०प्र०)

'क्रमनियमितपर्याय' जैनदर्शन का एक बहुचर्चित सिद्धान्त है। मुख्यत आज के युग मे इसके पक्ष और विपक्ष मे खूब चर्चा होती रही है। इस विषय पर विद्वज्जनो के मतभेद किसी से छिपे नही हैं। मुझे खुशी है कि इस सन्दर्भ मे इतने विस्तार से सभी पहलुओ का स्पर्श करते हुए तथा सामान्य पाठक की समझ मे आ सकने योग्य सीधी-सरल भाषा मे पहली बार ही लिखा गया है। यो तो दार्शनिक गुत्थियाँ प्राय गूढ एव शुष्क हुआ करती हैं, किन्तु डॉ० भारिल्लजी उन्हे रुचिकर एव सरस बनाकर प्रस्तुत करने मे सिद्धहस्त है। मैं उनके इस कमाल का सादर अभिवादन करता हूँ।

जो लोग इस सिद्धान्त से अब भी मतभेद रखते हैं, इस ग्रंथ के प्रकाशन से उन्हें भी एक अवसर मिला है कि वे अथाह आगम-सिन्धु मे पुनः-पुन. गोते लगाएँ और नये-नये मोती ढूंढकर लायें।

मुझे पूर्ण आशा है कि तत्त्व-चिन्तन और चर्चा के इस स्वस्थ एव सन्तुलित प्रयास को सपूर्ण जैनजगत मे निश्चय ही सराहा जायेगा। अपनी ओर से विद्वान लेखक को हार्दिक साधुवाद प्रेषित करता हूँ।

★ प० उदयचन्द्रजी जैन, प्राध्यापक, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल द्वारा लिखित 'क्रमबद्धपर्याय' का सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन करने पर ज्ञात हुआ कि यह पुस्तक जैनदर्शन के गूढ सिद्धान्त – पर्यायो की क्रमबद्धता को – आगमिक तथा तार्किक आधारो पर सप्रमाण सिद्ध करती है। पर्यायो की क्रमबद्धता मे जो अनेक आशकाएँ उत्पन्न होती हैं, उनका समाधान भी प्रश्नोत्तर के रूप मे उत्तम रीति से किया गया है।

पर्यायो की क्रमबद्धता मे सबसे बडा दोष पुरुषार्थ की निष्क्रियता का आता है, किन्तु जब सब-कुछ क्रमबद्ध है तब पुरुषार्थ भी तो उसी के गर्भ में

समाहित है। महावीर ने भगवान बनने के लिए अपने पूर्वभवो मे जो पुरुषार्थ किया, उसे पर्यायो की क्रमबद्धता के नियमानुसार करना ही था। ऐसा नहीं है कि यदि वे चाहते तो पुरुषार्थ न करते। पुरुषार्थ करना या न करना उनके आधीन नहीं था। अत जो वस्तु या पर्याय क्रमनियत है उसे कोई बदल नहीं सकता।

पर्यायो की क्रमबद्धता की सिद्धि मे सर्वज्ञता एक प्रमुख आधार है और जैनदर्शन का भवन सर्वज्ञता की नींव पर ही आधारित है। जो व्यक्ति जैनदर्शन-प्रतिपादित 'सर्वज्ञ' को मानता है, उसे क्रमबद्धपर्याय के सिद्धान्त को मानना आवश्यक है। जिनका विश्वास सर्वज्ञ मे न हो वे भले ही पर्यायो की क्रमबद्धता के सिद्धान्त से मुक्ति पा सकते हैं।

क्रमबद्धपर्याय एक गभीर विषय है और श्री कानजी स्वामी द्वारा यह विषय विशेष रूप से प्रकाश मे लाया गया है। अत इस गम्भीर विषय को समझने के लिए डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल की महत्त्वपूर्ण कृति 'क्रमबद्धपर्याय' का अध्ययन, मनन तथा चिन्तन आवश्यक है। इस उपयोगी रचना के लिए लेखक तथा प्रकाशक दोनो ही बधाई के पात्र है।

★ प० भरतचक्रवर्तीजी जैन, शास्त्री, न्यायतीर्थ, मद्रास

इसमे सन्देह नही कि 'क्रमबद्धपर्याय' एक अनुपम कृति है। आपने यह सिद्ध कर दिया है कि बिना सर्वज्ञता के माने 'क्रमबद्धपर्याय' का वास्तविक ज्ञान सभव नही है, क्योकि हम अल्पज्ञो के ज्ञान में 'क्रमबद्धपर्याय' झलकती नही है। इसकी पुष्टि मे उद्धृत पूज्यश्री कुन्दकुन्द, पूज्यपाद आदि महान आचार्यो की पक्तियाँ निरन्तर स्मृति मे रखने योग्य हैं। साथ ही सर्वथा एकान्त नियतवाद, पुरुषार्थहीनता, अकर्तृत्वपना आदि हेतुहीन वादो का निराकरण करते हुए आपने आगम, युक्ति एव लौकिक उदाहरण के साथ यह दर्शाया है कि पुरुषार्थ, कर्तृत्वपना आदि किस प्रकार क्रमबद्धपर्याय के साथ उलझे पडे हैं। अपमृत्यु के सम्बन्ध मे आपका स्पष्टीकरण अत्यन्त प्रशसनीय है। जटिल विषयो को सरस वाणी मे व्यक्त करने की कला आप में अनोखी है।

अनुशीलन के साथ सलग्न सभावित प्रश्नोत्तर तथा इन्टरव्यू तो सोने मे सुगन्ध वाली लोकोक्ति को चरितार्थ कर रहे हैं। सक्षेप मे इसे चारो अनुयोगरूप महासागर को मथकर निकाला गया 'सिद्धान्तामृत' कहे तो कोई अत्युक्ति नही होगी।

★ पं० बंशीधरजी शास्त्री, एम० ए०, जयपुर (राजस्थान)

इस शताब्दी मे श्री कानजी स्वामी ने 'क्रमबद्धपर्याय' नामक अमूल्य चिन्तामणिरत्न जैनसिद्धान्त-ग्रथो के मथन से प्राप्त कर सर्वसाधारण को भी सुलभ कर दिया। यद्यपि पहले स्वामी कार्तिकेय, समन्तभद्र व भैया भगवतीदास ने अपने साहित्य में इस मान्यता की पुष्टि की थी, किन्तु इसका जैसा प्रचार श्री कानजी स्वामी द्वारा हुआ वैसा पहले नही हो पाया था। कुछ लोगों ने इसका अन्य कारणो से विरोध किया, किन्तु उन्हे सर्वज्ञता या अवधिज्ञान के आधार पर इसे फलितार्थ के रूप मे मानना ही पडता था, पडता है, और पड़ेगा।

★ पं० ज्ञानचन्द्रजी 'स्वतंत्र', शास्त्री, न्याय-काव्यतीर्थ, गंजबासौदा (म० प्र०)

पर्याय की क्रमबद्धता की स्वीकृति में कर्तृत्ववाद और अहम्वाद नहीं होता। स्व-चतुष्टय के अनुसार द्रव्य का परिणमन अनादिकाल से प्रवाहरूप मे चला आ रहा है और अनन्तकाल तक चलता रहेगा। इसे परिवर्तित करने का अधिकार किसी को नही है। जिसे क्रमबद्धपर्याय परिवर्तित करने का 'अहम्' है वे इस पुस्तक को मनोयोगपूर्वक समझने की दृष्टि से पढ़ें तो उनके अहम् का नशा अवश्य ही उतर जायेगा।

द्रव्य (जड और चेतन) का परिणमन मेरी इच्छानुसार हो, ऐसा जो भाव है, वही अगृहीत मिथ्यात्व है। जबतक द्रव्य के परिणमन की स्वतत्र सत्ता को स्वीकार न किया जायगा तबतक अगृहीत मिथ्यात्व टल नही सकता।

डॉ० भारिल्लजी की भाषा परिमार्जित, साहित्यिक, सरल, सुबोध और भावात्मक तो है ही, साथ मे प्रभावक भी है, जो पाठको को अपनी ओर बरबस आकर्षित करती है। ऐसी रचना को सत्-साहित्य भी कहते हैं।

जो विद्वान् क्रमबद्धपर्याय से मतभेद रखते हैं उनके लिए तो विद्वान् भारिल्लजी की यह नूतन मौलिक रचना एक रामबाण औषधि की तरह काम देगी, ऐसा मैं मानता हूँ।

पहले पण्डित फूलचन्दजी शास्त्री के जैनतत्त्व-मीमासा व खानियाँ तत्त्वचर्चा मे इसको जैनागम से सही सिद्ध किया था। इस पर अनेक प्रकार से ऊहापोह होता रहा है। इसलिए आवश्यकता थी कि इस सारे ऊहापोह को श्री कानजी स्वामी के मन्तव्यों के साथ सरल शैली व भाषा मे प्रस्तुत किया जावे ताकि जनसाधारण भी इस तत्त्व को समझकर, राग-द्वेष छो-

कर आत्मकल्याण के भाजन बनें। मुझे प्रसन्नता है कि डॉ० हुकमचन्दजी ने इस विषय पर सरल, सुबोध शैली व भाषा मे शास्त्रीय-प्रमाणो सहित सुन्दर विवेचन प्रस्तुत किया है। यह पुस्तक क्रमबद्धपर्याय को सम्यक्रूप से समझने मे जिज्ञासु, विवेकशील पाठको के लिए लाभदायक होगी। प० टोडरमल स्मारक ट्रस्ट ने भी इसकी दस हजार प्रतियाँ प्रथम संस्करण मे प्रकाशित कर श्री कानजी स्वामी के शास्त्र-सम्मत मन्तव्यो के प्रचार मे अनूठा योगदान दिया है।

प्रकाशित पुस्तक लेखन व प्रकाशन दोनो ही दृष्टियो से सर्वोत्तम रूप से मनमोहक बनी है। इसके लिए लेखक व प्रकाशक दोनो ही धन्यवाद के पात्र हैं।

*** वाणीभूषण, प्रतिष्ठाचार्य पं० मुन्नालालजी शास्त्री 'कौशल', ललितपुर**

पुस्तक आद्योपान्त पढी, बार-बार पढने को जी चाहता है।·······विषय पर गभीर दृष्टि डालने पर अपूर्व शान्ति मिलती है। इसकी आस्था से अपने क्षयोपशमिक ज्ञान में अस्थिरता वुद्धि से जो उथल-पुथल होती है उसमे स्थिरता को बल मिलता है, पर से कर्तृत्वबुद्धि स्वत दूर होती है।

इसके पढने से पुरुषत्व जगाने मे मुझे बडा सबल मिला, दृष्टि गभीर हो गई।

★ पं० धन्यकुमारजी भोरे, न्यायतीर्थ, कारन्जा (महाराष्ट्र)

वर्त्तमान मे बहुचर्चित विषय 'क्रमबद्धपर्याय' पर इस पुस्तक मे खूब प्रकाश पडता है। आपका प्रयास मुख्यत केवलज्ञान-सर्वज्ञता के आधार पर क्रमनियतपर्याय का समर्थन करना है। यह तो आपने दो-चार जगह स्पष्ट किया ही है कि पर्यायो के क्रम का कर्त्ता केवलज्ञान नही है।

विषय की गभीरता अगाध है। अध्यात्म ग्रन्थो का सुव्यवस्थित आधार दिया है। पुस्तक का मुद्रण, कागज, गेटअप आदि अति उत्कृष्ट हैं।

★ पं० हीरालालजी जैन 'कौशल' शास्त्री, न्यायतीर्थ, दिल्ली

'क्रमबद्धपर्याय' गम्भीर चिन्तन और मनन का विषय है। लेखक ने काफी विचारणीय सामग्री प्रस्तुत की है।

★ श्री पांडे परमेष्ठीदासजी जैन, उज्जैन (म० प्र०)

'क्रमबद्धपर्याय' मैने यह विषय समझ के परे समझकर छोड दिया था। उसमे सदैव यही जान पडा कि पुरुषार्थ को धक्का दिया जा रहा है। परन्तु जबसे इस विषय पर डॉ० भारिल्लजी के सम्पादकीय लेख पढे सब समझ मे आने लगा। अब तो आगे पढने की अभिलाषा बनी रहती है।

★ प० श्री उत्तमचदजी जैन एम० ए०, बी० एड० (तिरोडी म० प्र०)

'क्रमबद्धपर्याय' नामक कृति निश्चित ही अद्वितीय, गभीर, सतर्क, सप्रमाण, सोदाहरण, सर्वजनग्राह्य एव सर्वज्ञता का सचोट ढिढोरा पीटती प्रतीत होती है। इस ढिढोरे मे ही क्रमबद्धपर्याय की सहज एव स्पष्ट झलक ज्ञानगोचर होती है। आचार्य समन्तभद्र के युग मे जरूरत थी सर्वज्ञता का डका बजाने वाले की, जिसे स्वय समन्तभद्राचार्य ने पूर्ण किया। पूज्य सत कानजीस्वामी के इस युग मे आवश्यकता थी 'क्रमबद्धपर्याय' का नगाडा बजाने वाले की, जिसे डॉ० भारिल्ल साहब ने अपनी उक्त कृति द्वारा पूर्ण करने का सफल प्रयास किया है, जिसके लिए वे सदा तत्त्वान्वेषियो द्वारा धन्यवादार्ह रहेगे।

★ श्री कमलकुमारजी जैन, इन्दौर (म० प्र०)

'क्रमबद्धपर्याय एक अनुशीलन' के अन्तर्गत पूर्व के लेखो मे अव्यवस्थितपना भी एक निश्चित व्यवस्थित-क्रम के अनुसार ही होता है, पढकर अतीव प्रसन्नता हुई। घटनाओ को तटस्थ रूप से देखने, समझने का बल मिलता है। कार्य होने या न होने का जो दोष पर-पदार्थों (चेतन या अचेतन निमित्तो) पर डालने की भ्रमित बुद्धि है, वह दूर होती है। क्रमबद्धपर्याय का चिन्तन राग-द्वेष से रहित ऐसे चैतन्यपुरुषार्थ को जगाता है जिससे कि प्रतिकूलता या अनुकूलता मे, वैभव मे या रकपने मे, निर्मल समता परिणाम पर्याय मे अनुभव हो सके। मात्र अपने पदार्थ पर ही दृष्टि जाती है ठहरने के लिए। डर यही है कि 'क्रमबद्धपर्याय' को ठीक से न समझकर समाज इसे एकान्त नियतवाद न समझे।

★ डॉ० पन्नालालजी जैन, साहित्याचार्य, सागर (म० प्र०)

उत्पाद-व्यय ध्रौव्यात्मक होने से द्रव्य परिणमनशील है। द्रव्य का यह परिणमन पर्याय के रूप मे झलकता है। यद्यपि द्रव्य का परिणमन द्रव्य

के स्वाधीन है और सर्वज्ञ के ज्ञान का परिणमन सर्वज्ञ के स्वाधीन है, तथापि यह निश्चित है कि सर्वज्ञ के ज्ञान मे प्रत्येक द्रव्य की त्रिकालवर्त्ती पर्यायें झलकती हैं, अत सर्वज्ञता को स्वीकृत करने वाले के सामने पर्याय की क्रमबद्धता स्वत सिद्ध है।

पर्याय की क्रमबद्धता स्वीकृत करने मे न नियतवाद का एकान्त आता है, और न पुरुषार्थवाद का अभाव होता है। नियतवाद का लक्ष्य जहाँ अकर्मण्यता और स्वेच्छाचारिता है, वहाँ पर्याय की क्रमबद्धता का लक्ष्य कर्तृत्ववाद के अहकार से दूर रहना है। कार्य की सिद्धि जिस निमित्त और जिस प्रकार के पुरुषार्थ से होनी है, वह उसी निमित्त और उसी पुरुषार्थ से होती है। सर्वज्ञ के ज्ञान मे वह निमित्त और पुरुषार्थ का वह प्रकार भी झलकता है। विवाद वहाँ उपस्थित होता है जहाँ हम कार्य की भवितव्यता सर्वज्ञ के ज्ञान के अनुसार स्वीकृत करते हैं और पुरुषार्थ को अपने छद्मस्थ के ज्ञान का विषय बनाते हैं।

कालनय और अकालनय की चर्चा तथा उदय और उदीरणा का प्रकरण श्रुतज्ञान का विकल्प है। जिस जीव के मोक्ष जाने का समय आ जाता है वह नित्यनिगोद से निकल कर कर्मभूमि का मनुष्य होकर उसी पर्याय से मोक्ष प्राप्त कर लेता है। द्रव्यादि स्वचतुष्टय के अनुसार पदार्थ का परिणमन अनादिकाल से चला आ रहा है और अनन्तकाल तक चलता रहेगा। इसे परिवर्तित करने का अहकार छूट जाए यही सबसे बड़ा पुरुषार्थ है। **पर्यायों की क्रमबद्धता मुझे इष्ट है। मात्र विरोध के लिए विरोध करना अच्छा नहीं है।**

श्री डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल ने 'क्रमबद्धपर्याय' के लिखने मे जो श्रम किया है, उसकी मैं अनुशंसा करता हूँ।

★ डॉ० हरीन्द्रभूषणजी जैन, प्राध्यापक, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन

'क्रमबद्धपर्याय' जैनदर्शन की एक महत्त्वपूर्ण विचारधारा है, सर्वज्ञता के प्रसंग में सर्वत्र इस पर विचार किया गया है। इन दोनो तत्त्वों का विचार करते समय इनसे सम्बद्ध अनेक बातो का विश्लेषण करना आवश्यक होता है। जैसे – अनेकान्त, प्रमाण, नय, नियतिवाद एवं पुरुषार्थवाद, कर्तृत्व और अकर्तृत्व, द्रव्य, गुण, पर्याय, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, निमित्त, नैमित्तिक, पंच समवाय [वस्तुस्वभाव, दैव, पुरुषार्थ, काललब्धि तथा भवितव्य] आदि।

डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल ने उपर्युक्त सभी बातों के माध्यम से क्रमबद्ध-पर्याय का जो सुन्दर, सयुक्तिक एव प्रामाणिक विवेचन किया है, वह उनके सतत् ज्ञानाराधन एव श्रमशीलता का निदर्शन है।

हमे पूर्ण विश्वास है कि प्रबुद्धजन इस अमूल्य कृति से लाभान्वित होंगे। मैं डॉ० भारिल्लजी को उनकी इस महत्त्वपूर्ण रचना पर साधुवाद देता हूँ और कामना करता हूँ कि वे निश्चय-व्यवहार, निमित्त-उपादान आदि विषयो पर भी इसी प्रकार पुस्तिकायें लिखकर समाज को लाभान्वित करेंगे।

★ डॉ० देवेन्द्रकुमारजी शास्त्री, व्याख्याता, शासकीय महाविद्यालय, नीमच

डॉ० भारिल्लजी ने प्रस्तुत पुस्तक मे तर्कप्रधान शैली मे सभी अनुयोगो की दृष्टि से विस्तार के साथ सारगर्भित विवेचन किया है। जैनदर्शन व सर्वज्ञता की मूल प्रतिपत्ति को समझने के लिए पुस्तक सर्वथा उपयोगी है। आशा है सभी प्रकार के पाठक इससे लाभान्वित होंगे। इस सुन्दर व उपयोगी प्रकाशन के लिए मेरी हार्दिक बधाई स्वीकार करें।

★ डॉ० राजेन्द्रजी बसल, ओ० पी० मिल्स लिमिटेड, शहडोल (म० प्र०)

डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल ने क्रमबद्धपर्याय के महान सिद्धान्त पर आगम के आलोक मे खुले दिल एव दिमाग से चिन्तन-मनन किया। जिनवाणी के तत्सम्बन्धी बिखरे तथ्यों को समन्वित कर तर्क एव युक्ति से विश्लेषण किया और सारगर्भित किन्तु सहजग्राही निष्कर्ष निकाले; यह उनकी कुशल एवं सक्षम लेखनी का ही कमाल है, जिसके माध्यम से चारो अनुयोगो का हार्द सहज सरल भाषा एव रोचक शैली मे प्रकट हुआ है।

डॉ० साहब ने एक सफल शल्यचिकित्सक (सर्जन) के समान सर्वज्ञता, पुरुषार्थ एव क्रमबद्धपर्याय के सिद्धान्त के अर्थ एव उनके मध्य परस्पर सम्बन्ध को स्पष्ट कर यह सिद्ध कर दिया है कि जो पुरुषार्थ है वह स्व-स्वभाव मे ही सम्भव है, परवस्तु मे नही। और जो दृश्य-अदृश्य जगत मे घटित हो रहा है, वह सब-कुछ क्रमव्यवस्थित एव क्रमबद्ध ही है, अन्यथा नही। 'क्रमबद्धपर्याय' के सिद्धान्त का क्या रहस्य है ? इस सिद्धान्त की मोक्षमार्ग एव सासारिक जीवन मे क्या उपादेयता है ? उसकी श्रद्धा हेतु स्व-स्वभाव के सम्मुख कैसे हुआ जा सकता है – आदि विभिन्न बिन्दुओ का विशुद्ध तर्कसगत एव सहजग्राही प्रतिपादन प्रस्तुत लेख मे हुआ है। समग्ररूप से

डॉ० भारिल्लजी विवाद एव रहस्यमयता की भवर मे फंसी क्रमबद्धपर्याय के सिद्धान्त की नौका को कुशलता एव सफलतापूर्वक निकालकर प्रबुद्ध पाठक के मानस-कूल तक पहुँचाने मे सफल नाविक सिद्ध हुए हैं। उनका यह प्रयास अभिनन्दनीय है। अन्त मे प्रश्नोत्तरो के माध्यम से इस सन्दर्भ में उठने वाली सभी शकाओ का समाधान भी सरल भाषा व सहज शैली में प्रस्तुत कर दिया है।

★ डॉ० पारसमलजी अग्रवाल, भीलवाड़ा (राज०)

आत्मधर्म के सम्पादकीय मे क्रमबद्धपर्याय की विवेचना जिस सुन्दर ढग से चला रखी है वह अभूतपूर्व है। **पुरुषार्थ एव क्रमबद्धपर्याय का सुन्दर समन्वयन दर्शनशास्त्र की एक मौलिक समस्या को हल करता है कि भाग्य एवं पुरुषार्थ मे अनबन नहीं है।**

★ डॉ० भागचन्द्रजी जैन, अध्यक्ष, पालि-प्राकृत विभाग, नागपुर विश्वविद्यालय

डॉ० भारिल्ल जैनधर्म और दर्शन के एक सुपरिचित चिंतक विद्वान हैं। 'क्रमबद्धपर्याय' जैसे दुर्बोध, दार्शनिक एव विवादास्पद विषय को सुबोध एव निर्विवाद बनाने का प्रयत्न आपने प्रस्तुत पुस्तक के माध्यम से किया है। यह इनकी प्रतिभा व अभिव्यक्ति-क्षमता का सुन्दर उदाहरण है। अत इतनी अच्छी और उपयोगी पुस्तक का लेखक निश्चितरूप से अभिनन्दनीय हैं।

★ डॉ० नरेन्द्र भानावत, प्राध्यापक, राज० विश्वविद्यालय, सम्पादक 'जिनवाणी'

डॉ० भारिल्ल लोकप्रिय आध्यात्मिक प्रवक्ता तथा दार्शनिक चिन्तक और सफल लेखक हैं। आपके चिन्तन मे मौलिकता, तार्किकता और स्पष्टता का अद्भुत सगम देखते ही बनता है। प्रस्तुत पुस्तक इसका प्रमाण है। इसमें जैनदर्शन के एक प्रमुख तत्त्व क्रमबद्धपर्याय का विवेचन-विश्लेषण करते हुए लेखक ने स्पष्ट किया है कि प्रत्येक वस्तु एक निश्चित क्रमानुसार ही परिणमित होती है। नियतिवाद और पुरुषार्थवाद के परिप्रेक्ष्य मे कई प्रश्न और जिज्ञासाएँ खडी कर यह सिद्ध किया है कि जैनदर्शन का अकर्त्तावाद मात्र यहीं तक सीमित नही कि कोई तथाकथित ईश्वर जगत का कर्त्ता नही है। अकर्त्तावाद का व्यापक अर्थ यह है कि कोई भी द्रव्य किसी अन्य द्रव्य का कर्त्ता, हर्त्ता, धर्त्ता नहीं, यहाँ तक कि अपनी भी क्रमनिश्चित पर्यायो मे वह किसी प्रकार का फेर-फार नही कर सकता है।

इसप्रकार क्रमबद्धपर्याय की बात कहकर लेखक ने वस्तु की अनन्त स्वतंत्रता की घोषणा की है। लेखक की प्रतिपादन शैली तार्किक और गूढ होते हुए भी रोचक और सहज है। यही इसका वैशिष्ट्य है। यह पुस्तक विचार-क्षेत्र मे चिन्तन के नये आयाम प्रस्तुत करती है।

★ **डॉ० प्रेमचन्दजी रांवका, प्राध्यापक, राज० महाविद्यालय, मनोहरपुर (राज०)**

डॉ० भारिल्लजी की नवीनतम कृति 'क्रमबद्धपर्याय' सम्यक्त्व के अनुशीलन मे महत्त्वपूर्ण मार्गदर्शन करने वाली कृति है। इस कृति के माध्यम से पाठको को दर्शनशास्त्र की एक मौलिक समस्या के समाधान मे एक नया आयाम मिला है। इस अभिनव प्रकाशन के लिए डॉ० भारिल्ल साहब का अभिनन्दन।

★ **डॉ० चन्दूभाई टी० कामदार, राजकोट (गुजरात)**

प्रस्तुत कृति 'क्रमबद्धपर्याय' का मैंने अत्यन्त गभीरतापूर्वक अध्ययन किया। इस विषय को आपने मौलिक रूप मे जिस सुन्दर ढग से प्रस्तुत किया है उसका अध्ययन करते हुए अत्यन्त आनन्द होता है। उसमे जो वस्तु-व्यवस्था की चर्चा की है, "क्रमनियमित अवस्था यही वस्तु की व्यवस्था है।" केवलज्ञान के आधार से आगम और युक्ति द्वारा अनेक प्रकार से जो वस्तुस्वरूप सिद्ध किया है उसका गंभीरतापूर्वक विचार करने वाले को पर का और अपनी पर्याय का कर्त्तृत्व उड जाता है तथा अकर्त्तापने का स्वभाव-सन्मुख अनन्तपुरुषार्थ जागृत हुए बिना नहीं रहता। यह तो भव-भ्रमण टालने का अमोघ उपाय आपने सुन्दर ढग से बताया है।

इस सुन्दर कृति के लिए आपको बहुत-बहुत धन्यवाद। ऐसा सुन्दर कार्य करते रहें – यही भावना है।

★ **डॉ० कुलभूषण लोखडे, एम०ए०, पीएच०डी०, संपादक दिव्यध्वनि, सोलापुर**

..... 'डॉ० भारिल्ल एक अध्यात्मचिंतक एव सूक्ष्म विवेचक हैं। आपने इस ग्र थ मे क्रमबद्धपर्याय को लेकर समस्त जैन तत्त्वज्ञान का सागर क्रमबद्ध-पर्यायरूप गागर मे भर दिया है।

मेरी यह धारणा है कि नि पक्ष भूमिका से और सही दिशा मे श्रद्धा के साथ जिनाभ्यासु को इस पुस्तक द्वारा सही मार्गदर्शन होगा।... .....

★ डॉ० नरेन्द्र विद्यार्थी एव श्रीमती डॉ० रमा जैन, छतरपुर (म० प्र०)

क्रमबद्धपर्याय को एक उलझा हुआ अत कठिनतम विषय मानकर लोग उसके अध्ययन से ही छटकते रहे हैं, मनन और चिन्तन का तब प्रश्न ही नही उठता। जैन समाज के स्वनामधन्य तत्त्वविवेचक डॉ० भारिल्लजी द्वारा अनेक गहन ग्रन्थो का अध्ययन कर "नाना पुराण निगमागम सम्मत यत्, जैनागमे निगदित क्वचिदन्यतोऽपि" के अनुसार भारिल्लजी की 'क्वचिदन्यतोऽपि" विवेचक विद्वत्ता ने क्रमबद्धपर्याय को बहुत सरल ढग से समझाया है। वस्तुत सर्वज्ञता प्राप्त करने का प्रारम्भिक उपाय सर्वज्ञता का स्वरूप समझना है। जिस प्रकार जब तीर्थंकर किसी माँ के गर्भ मे आते हैं, तो उसके पूर्व स्वप्नो मे आते है, उसी प्रकार जिस आत्मा मे सर्वज्ञता प्रगट होती है प्रगट होने के पूर्व उसे वह समझ मे आती है। सर्वज्ञता समझ मे आये विना प्राप्त नही की जा सकती है।

★ श्री अक्षयकुमारजी जैन, भूतपूर्व सम्पादक 'नवभारत टाइम्स', दिल्ली

पुस्तक अत्यन्त उपयोगी, रोचक और ज्ञानवर्धक है। मेरी ओर से डॉ० भारिल्लजी को बधाई।

★ प्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान श्री अगरचन्दजी नाहटा, बीकानेर (राजस्थान)

वास्तव मे डॉ० भारिल्लजी को इस विषय (क्रमबद्धपर्याय) का बहुत गम्भीर चिन्तन है। इससे उलझा-सा विषय स्पष्ट हो गया है। सर्वज्ञ के ज्ञान मे जो भी आता है वह उसी प्रकार से हो के रहता है, अत सभी पर्यायें निश्चित हैं, अन्यथा सर्वज्ञ का ज्ञान अन्यथा हो जाएगा। क्रमबद्धपर्याय की मान्यता से – जैसा कि भारिल्लजी ने लिखा है – **बहुत बडी शान्ति मिल सकती है, समभाव रखा जा सकता है।** अत यह ग्रथ बहुत ही उपयोगी है।

★ प्रसिद्ध साहित्यकार श्री यशपालजी जैन, मत्री, सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली

डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल की लोकोपयोगी कृति 'क्रमबद्धपर्याय' पढकर मुझे आन्तरिक प्रसन्नता हुई। इस पुस्तक मे उन्होंने एक ऐसे गूढ विषय पर अत्यन्त सरल, सुबोध, प्रामाणिक तथा युक्तिसगत ढग से प्रकाश डाला है जिसके सम्बन्ध मे अधिकाश जैन समाज अनभिज्ञ है – लेकिन जिसे जाने बिना व्यक्ति स्थायी शाति और वास्तविक सुख प्राप्त नही कर सकता। 'क्रमबद्धपर्याय' का अनुशीलन हमे जीवन की गहराईयो मे ले जाकर उन

रत्नो को खोज निकालने की क्षमता प्रदान करता है – जो मानव जीवन को समृद्ध करते हैं, धन्य और कृतार्थ बनाते हैं। पुस्तक की सबसे बडी विशेषता यह है कि वह एक नई दृष्टि देती है और पूरी शक्ति से पुरुषार्थ करने को प्रेरित करती है। ऐसी उत्तम रचना के लिए मैं लेखक को हार्दिक बधाई देता हूँ और आशा करता हूँ कि यह पुस्तक जैन तथा जैनेतर समाजो मे मनोयोगपूर्वक पढी जावेगी।

★ प्रा० प्रवीणचन्द्रजी जैन, निदेशक, उच्च० अध्ययन अनुसंधान संस्थान, जयपुर

'क्रमबद्धपर्याय' एक समग्र दर्शन है। इसे समझने के लिए आस्थापूर्ण सूक्ष्मदृष्टि अपेक्षित है। यह दर्शन उसी को फलित होता है जो यह आस्था रखता है कि केवलज्ञानी को द्रव्य की त्रिकाल सत्ता का व उसकी समस्त पर्यायो का दर्शन होता है।

डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल इस गहन दर्शन को इतनी सूक्ष्म विवेचना के साथ हिन्दी भाषी जिज्ञासुओ के सामने सम्भवत पहली ही बार लाये हैं। उसका प्रतिपादन आगमसम्मत और सयुक्तिक होते हुए भी सरलता से ओतप्रोत है। वस्तुस्थिति को समझने और उसके द्वारा निराकुल भाव की उपलब्धि मे इसका अध्ययन यथेष्ट रूप से सहायक होगा। इस रचना के प्रतिपाद्य तत्त्व को समझने से मानव कर्त्तृत्व के अभिमान से मुक्त होकर अपने स्वभावानुसार ऊर्ध्वमुखी होता जायेगा। वह कर्त्ता की स्थिति से हटकर ज्ञाता और दृष्टा की स्थिति को उपलब्ध होता जाएगा।

रचना की यह उपलब्धि असाधारण उपलब्धि है। मैं डॉ० भारिल्ल की इस बहुमूल्य कृति को सत्साहित्य मे परिगणनीय समझता हूँ और इसी रूप मे उसका स्वागत करता हूँ।

★ प्रो० खुशालचंदजी गोरावाला, प्रधान मंत्री, भा० दि० जैन संघ

'क्रमबद्धपर्याय' एक शाश्वत तथ्य है। क्योकि जैनी-सर्वज्ञता ज्ञानीपरक है, ज्ञेयपरक या ज्ञेयाधीन नहीं। इसके लिए अनादि-अनन्त ज्ञेयो का सुनिश्चित होना अनिवार्य है। लौकिक ज्ञाता-ज्ञात शैली से सोचकर ही बहुत से विज्ञ भी इसमे नियतिवाद और तद्भव अकर्मण्यता की कल्पना कर बैठते हैं। किन्तु इसमे वस्तुस्वभाव या वस्तुस्वतन्त्रता मे कोई फर्क नही आता।

जगत मे कोई भी परिवर्तन या पर्याय आकस्मिक नहीं है, वह सुनिश्चित है।

इस युग में आचार्यकल्प प० टोडरमलजी, पूज्य गणेशवर्णी-त्रय ने समयसार के स्वाध्याय के समान क्रमबद्धपर्याय, सर्वज्ञता, जगदकर्त्तृत्व एव स्याद्वाद का अतीत में प्रवचन-प्ररूपण किया है। श्री कानजी स्वामी ने इन विषयों का व्यापक प्रचार किया है तथा डॉ० भारिल्लजी उनके गणधर का काम कर रहे हैं। फलत प्राकृत-सस्कृत न जानने वाले बहुसख्य जिनधर्मियो को ज्ञान की दृष्टि से भी जैनी होने का सौभाग्य प्राप्त होगा।

* हिन्दुस्तान (दैनिक), नई दिल्ली, १८ मार्च १९८०

इसमे जिनागम के सर्वाधिक महत्वपूर्ण एव मौलिक सिद्धान्त पर गभीर विवेचन किया गया है।

* वीर (पाक्षिक), मेरठ, १५ फरवरी १९८०

....प्रस्तुत ग्र थ को पढ़ने के बाद मुझे ऐसा लगता है कि क्रमबद्धपर्याय को समझे विना जिनागम को समझा ही नही जा सकता। विद्वान् लेखक ने क्रमवद्धपर्याय को सरलतम ढग से समझाने का सराहनीय प्रयास किया है, जिसके लिए वे बधाई के पात्र हैं।...... "मुझे आशा है कि यह ग्र थ भ्रमित बुद्धिजीवियो का भ्रम दूर करने मे बहुत उपयोगी सिद्ध होगा।

— राजेन्द्रकुमार जैन, संपादक

* जैनपथ प्रदर्शक (पाक्षिक), जयपुर, १ जनवरी १९८०

कृति सर्वांग सुन्दर, प्रस्तुत विषय को पूर्णरूपेण खुलासा करने वाली, विषय अत्यन्त दुरूह होने पर भी सुवोध शैली व सरलभाषा मे लिखी गई है।...... 'इससे अधिक विस्तृत, अधिक सक्षिप्त और सरल सारभूत इस विषय मे और क्या लिखा जा सकता है ? यह अपने विषय का अद्वितीय और अनुपम प्रदेय है।

— रतनचन्द भारिल्ल

* सन्मति संदेश (मासिक), दिल्ली, जनवरी १९८०

समीक्ष्य प्रकाशन का विषय कुछ धर्मबन्धुओ को नया-सा लग सकता है, किन्तु चारो अनुयोगो मे पर्याय के नियमितक्रम होने का वर्णन आता है, क्योंकि वह वस्तु का स्वभाव है; किन्तु उसका गभीरता से अध्ययन-मनन न होने से यह विषय जैनसमाज से अपरिचित ही रहा है। किन्तु यह सुनिश्चित है कि क्रमबद्धपर्याय के निर्णय के बिना कभी भी निर्भयता और वीतरागता नहीं आ सकती है।

श्री कानजी स्वामी ने इस विषय से हमको परिचित कराया है। जिसका सांगोपांग स्पष्टीकरण प्रस्तुत प्रकाशन मे लेखक द्वारा आगम-प्रमाण के परिप्रेक्ष्य मे किया गया है जिसे पढ़ लेने के पश्चात् कही भी कुछ अटकाव नहीं रह जाता है। इस विषय मे जितनी भी शकाएँ उठ सकती थी, उन सब का इसमे समाधान मिल जाने से विषय सूर्य के प्रकाश की तरह स्पष्ट हो जाता है। जिनको भी इस विषय मे सत्य निर्णय करना हो, उन्हें इस ग्रथ का अध्ययन-मनन विशेषरूप से करना चाहिए, क्योकि इसमे बडी सूक्ष्मता से इस विषय का निरूपण है। — प्रकाशचन्द 'हितैषी'

★ सन्मति-वाणी (मासिक), इन्दौर, मार्च १९८०

डॉ० भारिल्ल अच्छे वक्ता एव लेखक हैं। प्रस्तुत रचना उनकी वक्तृत्व शैली के अनुरूप प्रतीत होती है। इसमे अनेक युक्तियो और दृष्टान्तो से प्रत्येक द्रव्य की पर्याय निश्चित क्रम से क्रमवार ही प्रगट होती है यह सिद्ध किया गया है। क्रमबद्धपर्याय का प्रमुख आधार सर्वज्ञता बताया है कि सर्वज्ञ के ज्ञान मे त्रिकाल की पर्यायें सुनिश्चित क्रमवार वर्त्तमानवत् झलकती हैं जो नियत हैं।" ..... लेखक का चिन्तन, अध्ययन और परिश्रम सराहनीय है। — सहितासूरि प० नाथूलाल जैन शास्त्री